9175

जैन भारती

वर्ष 50 • अंक 9 • सितंबर, 2002

With best compliments from :

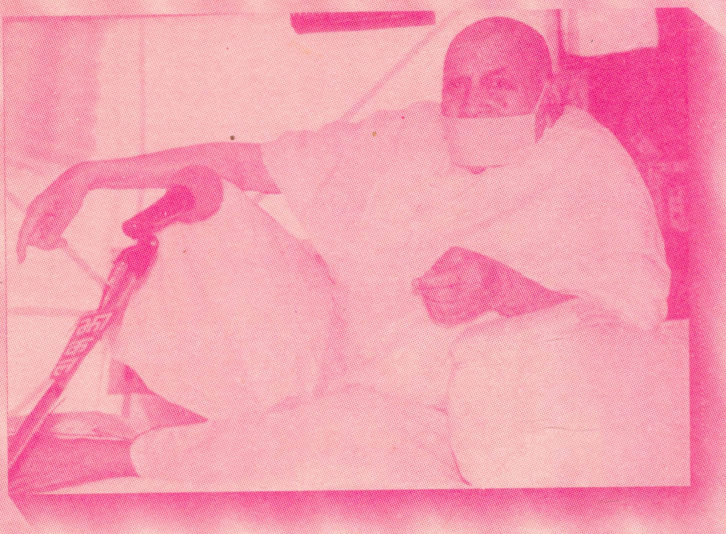

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT - SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

सितंबर, 2002 • वर्ष 50 • स्वर्ण जयंती वर्ष • अंक 9 • रु. 15.00

विमर्श

9
पंकज
राज, समाज और हिंसा

11
साध्वी दर्शनविभा
हिंसा का स्रोत

17
डॉ. बी. पी. गौड़
भाषा में हिंसा : एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

•

आवरण
खेराज

अनुभूति

23
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
क्या हो प्रयत्न की दिशा

28
डॉ. जिनेन्द्र जैन
प्रश्नाकुल सत्यान्वेषी

31
आचार्यश्री तुलसी
क्या हों हमारे आदर्श

35
मुनि बुद्धमल्ल
घटनाओं की अप्रतिम आभा

40
साध्वी योगक्षेमप्रभा
शिक्षा का समाधायक रूप

42
कहानी
रवीन्द्रनाथ ठाकुर
छुट्टी

46
कविता
प्रयाग शुक्ल की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
भूख और अहिंसा

शीलन

49
साध्वी अणिमाश्री
अनासक्त चेतना का निर्माण

51
साध्वी लक्ष्मीकुमारी
छिपे दोषों का स्वच्छ दर्पण

53
बालकथा
शकुन्तला सिरोठिया
नईम के घर राकेश

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 270305, 202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 125/- रुपये • त्रैवार्षिक 350/- रुपये • दसवर्षीय 1000/- रुपये

इस लोक में मनुष्यों का समूह ही नहीं, सृष्टि के चर-अचर सभी सम्मिलित हैं; पशु-पक्षी, वृक्ष-नदी, पर्वत, सब लोक हैं और सबके साथ साझेदारी की भावना की लोक-दृष्टि है; सबको साथ लेकर चलना ही लोक-संग्रह है और इन सबके बीच में जीना लोकयात्रा है। लोक के अर्थात् दिखने वाले कर्मों और देखने वाले लौकिक साक्ष्यों के आधार पर निर्णय लोकायत निर्णय है। लौकिक कार्यों के निष्पादन के लिए अध्यात्म विद्या के आचार्यों ने लोकायत की आवश्यकता समझी; क्योंकि उन्हें लगा कि पूर्वजन्म का, अदृश्य मूल का हवाला देकर तो कोई न दंड का समुचित निर्णय ले सकेगा, न दीवानी दावे का। भारतीय चिंतन में इकहरापन देखने वालों को यही बड़ा कष्ट होता है कि भारतीय दार्शनिक एक साथ दो बातें करते हैं—परमार्थ के स्तर पर एक, व्यवहार के स्तर पर दूसरी; वस्तुतः उनकी कथनी-करनी में भेद नहीं है। परमार्थ की बात करते समय भी वे व्यावहारिक सत्ता का प्रतिरोध नहीं करते, न व्यावहारिक कर्म का, क्योंकि उसे अनिवार्य मानते हैं। शंकर के भाष्य का आरंभ ही होता है उस वाक्य से जिसके अंत में है—'सत्यानृते मिथुनीकृत्य प्रसिद्धऽयं तवेदं ममेदमिति लोकव्यवहारः', सच-झूठ मिलाकर ही 'यह तेरा, यह मेरा' इस प्रकार का लोक-व्यवहार प्रसिद्ध है। पर वस्तुतः ये सभी विचारक लोक की संपूर्ण समृद्धि के लिए, लोक के वास्तविक उत्कर्ष के लिए लोक को अतिक्रमण करने वाले तत्त्वों का चिंतन करते थे—वह क्या है जो इस संसार को एक सूत्र में जोड़ता आया है, जोड़ता रहेगा? वह क्या है जो इसकी न्यूनताओं को भरता आया है, भरता रहेगा? वह क्या है, इसकी विसंगतियों का समाधान कहां मिलेगा और इसकी संभावनाओं के लिए ऊर्जा कैसे मिलेगी, इन सब प्रश्नों पर हमारे विचारक निरंतर विचार करते रहे। सबने जो विचार किया उसमें लोकहित था; पर वे स्वयं लोक से, लोक की रीति से कुछ-न-कुछ बाह्य हुए, बाहरी व्यक्ति हुए। वे लोक की व्यवस्था के बाहर हुए, लोक-व्यवस्था को चुनौती दी और साथ ही दूसरी व्यवस्था की आवश्यकता की बात बतलाई। ऐसे लोगों ने निश्चय ही शुभ चिंतन की अनवच्छिन्न और गतिशील धारा बहाई। उन्होंने व्यवस्था को जड़ नहीं होने दिया; पर सबकी छाप व्यवस्था पर पड़ती रही। कभी कम, कभी ज्यादा। लोक की चिंता न हो तो योगेश्वर कृष्ण यह क्यों कहते—'उत्सीदेयुरिये लोकाः', ये लोक नष्ट हो जाएं, यदि मैं सजग होकर कर्म न करूं। लोक की चिंता न होती तो तुलसीदास लोकमत की बात क्यों करते। इस प्रकार लोक की प्रतिष्ठा बराबर अक्षुण्ण रही है। भर्तृहरि ने लोक को महत्त्व देते हुए कहा कि—

धर्मस्थानवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः।
न तान् लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते।।

—विद्यानिवास मिश्र

साधु सब जीवों के पिता के समान हैं। मारने वाला अपने सिर ऋण करता है और मरने वाला ऋण चुकाता है। साधु मारने वाले को समझाएगा कि तू ऋण क्यों ले रहा है। इससे भारी होकर डूब जाएगा, अधोगति में चला जाएगा। इस प्रकार मारने या ऋण लेने वाले को समझाकर हिंसा छुड़ाना धर्म है। यह हृदय-परिवर्तन की मीमांसा है।

मारने वाले को बचाने का यत्न किया जाए, यह मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। किंतु मारने वाले को हिंसा के पाप से बचाने का यत्न किया जाए, इसमें धर्म की स्फुरणा है।

कोई कहता है—सेवा में स्वार्थ हो तो वह सेवा अध्यात्म के खिलाफ होगी। कोई कहता है—सेवा में असंयम हो तो वह सेवा अध्यात्म के खिलाफ होगी।

अध्यात्मवादी सेवा को ही गलत नहीं मानते हैं। वे उसे अनेक दृष्टिकोणों से देखते हैं और उसे अनेक भूमिकाओं में विभक्त करते हैं।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

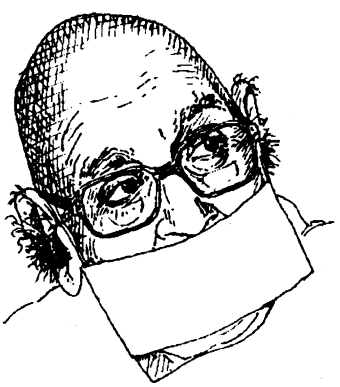

हेय का ज्ञान ही कैसे हो, जब आत्म-निरीक्षण नहीं होता। मनुष्य जितना करता है, वह सब उपादेय नहीं है और जो नहीं करता, वह सब हेय नहीं है। इसका विवेक आत्म-निरीक्षण से ही मिल सकता है। मैंने क्या किया, मुझे क्या करना है और वह क्या कार्य है जो मैं कर सकता हूं, पर नहीं कर रहा हूं—इस विशाल दृष्टि से जो अपने को देखता है, वही चक्षुमान उपासक है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जिससे कभी भूल न हो। मनुष्य मोह में फंसा हुआ होता है, वह किसी को प्रिय मानता है, किसी को अप्रिय। किसी को प्रिय या अप्रिय मानने का अर्थ है—मानसिक विकास की अपूर्णता। परिपूर्णता की स्थिति में भूल नहीं होती, पर अपूर्णता में भूल होना बहुत संभव है। जो आत्म-निरीक्षण नहीं करता, वह दूसरों की भूल को देखने में बहुत ही सूक्ष्म-दृष्टि होता है, और सिद्धहस्त होता है अपनी भूलों के साथ आंख-मिचौनी खेलने में। अपनी भूलों की अनुभूति उसी को होती है, जिसमें अपने-आप को देखने की क्षमता हो। जिसे अपनी भूलों की अनुभूति ही न हो, वह उनकी आलोचना क्या करेगा? जो अपनी आलोचना करता है, उसे दूसरों की आलोचना करने में बहुत कम रस रहता है या नहीं भी रहता। अपने लिए असद् व्यवहार को जो समझ लेता है, वह उसके लिए क्षमा मांग सकता है। क्षमा मांगना सचमुच ही अमृत की धार बहाना है। इससे विष ही नहीं धुलता, मैत्री का महान प्रवाह भी चल पड़ता है।

—आचार्य तुलसी

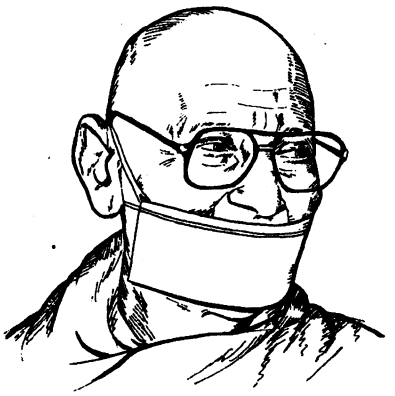

—धर्म कल्पवृक्ष है। उसके एक नहीं, अनेक फल हैं। विस्तृत साम्राज्य, मनोज्ञ स्त्री, अच्छे लड़के, सुस्वर, सुंदर रूप, रसपूर्ण कविता बनाने की कला, चातुरी, मधुस्वर, आरोग्य, गुणों की समृद्धि, सज्जनता और सुबुद्धि—कितना गिनाऊं, ये सारी धर्म की परिणतियां हैं।

एक ओर धर्म सिखाता है कि त्याग करो और दूसरी ओर साम्राज्य की प्राप्ति और भोग धर्म का फल है। एक ओर धर्म कहता है कि अनासक्त रहो, ब्रह्मचारी बनो और दूसरी ओर सुंदर स्त्री का मिलना धर्म का फल है। कितना विरोधाभास! लड़का हो जाए तो धर्म का फल और लड़की हो जाए तो पाप का फल। कितनी विडंबना! पता ही नहीं चलता कि ये भ्रांति-भरी लोक-मान्यताएं कैसे चल पड़ती हैं। धार्मिक लोग किस प्रकार प्रवाह में बह जाते हैं! धार्मिक लोग भी यह मान लेते हैं कि संसार में जो अच्छी वस्तुएं प्राप्त होती हैं, वे सब धर्म के कारण ही होती हैं। बेचारा धर्म कहीं का नहीं रहा। क्या पदार्थ की उपलब्धि ही धर्म की परिणति है? स्त्री की प्राप्ति भी धर्म से होती है और ब्रह्मचारी बनना भी धर्म से होता है? स्त्री-प्राप्ति और स्त्री-त्याग—दोनों धर्म से होते हैं? इससे अधिक और क्या बुद्धि-साध्य हो सकता है? ये सारी अत्युक्तियां हैं। धर्म से वही होगा, जो उससे हो सकता है। धर्म की प्रकृति है—त्याग और संयम। आचार्य भिक्षु ने धर्म की परिभाषा की—त्याग धर्म है और भोग अधर्म है। परिभाषा हो गई। कहीं जटिलता नहीं है। जीवन से जितना-जितना त्याग उतना-उतना धर्म और जितना-जितना भोग उतना-उतना अधर्म।

गीता में अनासक्त-योग और निष्काम-कर्म का सुंदर उपदेश है। किंतु लोग उसका भी दुरुपयोग करते हैं। मैंने एक भाई से पूछा—'अरे! ऐसा काम तुम करते हो?' वह बोला—'बिल्कुल अनासक्त भाव से कर रहा हूं। मेरा इसके साथ कोई लगाव नहीं है।' यह है अनासक्त-योग का दुरुपयोग। वह नहीं जानता कि अनासक्त चेतना कब-कैसे जागती है? गीता में अनासक्ति के जागरण के अनेक प्रयोग हैं। कोई उन प्रयोगों से गुजरता नहीं और सीधा अनासक्त बन जाता है। वह अपनी तीव्र आसक्ति की आड़ में अनासक्ति का उपयोग करता है। वह है धर्म की विडंबना।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
सितंबर, 2002

प्रसंग

भूख और अहिंसा

क्या यह जटिल प्रश्न नहीं कि भूख से संत्रस्त किसी व्यक्ति को हम अहिंसा का पाठ पढ़ाएं? यदि हम यह सोच रहे हों कि हर प्रकार की समस्या का समाधान अहिंसा में निहित है तो क्या हमें यह भी मान लेना चाहिए कि भूख से पीड़ित व्यक्ति हिंसक नहीं होगा? यह सच है कि विद्रोह की जननी विषमता है, यदि विषमता नहीं है तो विद्रोह की संभावना नहीं हो सकती और कहीं यदि विषमता के बीज पड़े हैं तो उसके फल हिंसा में परिलक्षित होंगे ही, भले हिंसा का रूप कैसा ही हो। सामान्यतया यह मंतव्य स्वीकार्य हो सकता है, पर बहुत सूक्ष्मता से यदि विचार किया जाए तो ऐसी सभी परिस्थितियों में हिंसक हो जाने से ही समाधान मिल जाने वाला नहीं है।

हम यह चर्चा तो थोड़ी देर बाद करेंगे कि हिंसा के कितने रूप हो सकते हैं, पर इतना तो हमें अभी ही मानना होगा कि भूख, हिंसा, अहिंसा, विषमता और विद्रोह या इन सबसे जुड़ी अनेक बातें प्रथमतः 'व्यक्ति इकाई' से ताल्लुक रखती हैं और फिर ही उसके प्रभाव समाज पर पड़ते हैं। जब हम यह कहते हैं कि भूख से पीड़ित व्यक्ति से अहिंसा की आशा कैसे की जा सकती है? अथवा जहां विषमता होगी वहां विद्रोह और अंततः हिंसा की संभावना भी रहेगी ही, तो वहां 'व्यक्ति इकाई' होते हुए भी समाज का एक हिस्सा भी होता है—यह मानना होगा। 'समाज' या कि 'संगठित रूप' जहां भी होगा वहां ऐसी परिस्थितियों में विद्रोह और हिंसा की संभावना भी रहेगी ही।

यह तो साफ है कि जहां-जहां विषमता होगी वहां-वहां विग्रह की प्रबलता रहेगी, पर अब यह किसी से छिपा नहीं है कि किसी भी तरह के विग्रह या विद्रोह से विषमता का समाधान नहीं निकल सकता, बल्कि कहना चाहिए कि ऐसे विद्रोहों से उपजी 'जमीनों' से भी कुछ नए प्रकार की विषमताएं कुछ ही अंतराल में लपलपा उठती हैं। विषमता का शमन तो समता और परस्परता में ही निहित है और यह बताने की जरूरत नहीं—समता का गर्भ-स्थल अहिंसा ही है। अतः अहिंसक समाज-रचना से ही भूख या कि विषमता जैसी समस्याओं का समाधान निकल सकता है।

वैयक्तिक जीवन और समाज-व्यवस्था की कई पद्धतियां हो सकती हैं। कैसी ही व्यवस्था या पद्धति हो—मनुष्य की जो आधारभूत जरूरतें हैं—वे उनसे पूरी होनी चाहिएं। भोजन, आश्रय, कपड़ा—जहां आधारभूत जरूरतें हैं—वहीं स्वास्थ्य, शिक्षा और सहज-सरल जीवन के लिए कतिपय अन्य सुविधाएं भी अनुसूचित की जा सकती हैं। कोई भी व्यवस्था या पद्धति यदि इन सबको उपलब्ध करा देती है तो उसे हम श्रेष्ठ लोकहितकारी व्यवस्था या पद्धति मान सकते हैं। हम कह सकते हैं कि इस कसौटी पर कोई भी व्यवस्था या पद्धति खरी नहीं कही जा सकती—निश्चय ही यह कहना अतार्किक नहीं है कि हिंसा या विद्रोह की एक वजह तो यह है, पर कई और भी हो सकती हैं, और हम यह भी जानते हैं कि इस तरह हिंसा के रूप-स्वरूप भी कई हैं।

व्यक्तिगत हिंसा से कहीं अधिक सघन हिंसा समाजगत है, समूहगत है। जो समूह अपनी आस्थाओं में जितना अधिक बद्धमूल होगा वह समूह उतना ही हिंसक भी हो सकता है—ऐसी संभावना हर समय बनी रहती है। इसी का दूसरा बड़ा रूप राज्य-सत्ता है। 'राज्य' जितना खतरनाक रूप में हिंसक हो सकता है—हिंसा का वैसा सघन रूप अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। विश्व की बड़ी ताकतों में जो घमासान आज हमें देखने को मिल रहा है, वह कभी भी हिंसा का रूप ले सकता है और वह हिंसा सर्वाधिक खतरनाक हिंसा होगी। यहां आश्वस्त करने वाला बस एक पहलू यही है कि विश्व की इन बड़ी ताकतों में ऐसी सामर्थ्य प्रतीत नहीं होती कि वे ऐसे किसी खतरे को झेल सकें। अतः इसे केवल संभावना-भर ही माना जा सकता है। पर यह आशंका और ऐसी वीभत्स संभावना का संत्रास भी क्या प्रच्छन्न हिंसा ही नहीं है?

हिंसा के कुछ दूसरे आकार-प्रकार भी हैं और वे भूख से (यदि?) उपजने वाली हिंसा जैसे ही हैं। भाषिक और व्यवहारगत हिंसा से लेकर दैहिक हिंसा के कई रूप चिह्नित किए जा सकते हैं। अपने मत को मनाने के अहिंसक या सविनय अवज्ञा (गांधीवादी) के तरीके से पैदा होने वाले दबावों में भी हिंसा तो निहित है ही। पर यहां यह देखा जाना जरूरी है कि ऐसे आग्रहों में लोकहित का रूप कैसा है और व्यक्तिगत निष्ठा की रक्षा की बात कितनी है?

यहीं पर एक बात स्मरण हो रही है जो पिछले दिनों किसी प्रसंग पर कही गई कि हर मुद्दे को हिंसा-अहिंसा में बांटकर देखना कहां तक उचित है? कुछ ऐसा भी होता है जो इन दो में नहीं बंटता, जैसे—भूख और अहिंसा पर एक साथ सोचते हुए यह लग सकता है कि भूख से पीड़ित व्यक्ति के किसी भी आचरण को हिंसा या अहिंसा में बांटकर नहीं देखा जाना चाहिए। गरज यह कि भूखे को पेट भरने के लिए हिंस्र होने की इजाजत दी जा सकती है? इस तर्क को यदि स्वीकार कर लिया जाए तो कई ऐसी विषमताएं आ उपस्थित होंगी जिनका हल किसी व्यवस्था या पद्धति के लिए संभव न हो। नैतिक तौर पर भूखे को अहिंसा का पाठ पढ़ाना शायद उचित नहीं कहा जाए, पर भूख के बदले किसी का हिंसक हो जाना अवश्य अनुचित कहा जाएगा।

लेकिन भूख और अहिंसा के मंतव्य में अंतर्भूत बात 'व्यक्ति इकाई' की भूख को मिटाने के लिए हो रही हिंसा ही नहीं है? यह एक समाजगत सरोकार है कि भूख के स्तर पर अहिंसा की बात कहां तक उचित है? सामाजिक विषमता से मुक्त होने का कोई भी उपाय अहिंसा के बिना कारगर नहीं हो सकता। इसीलिए भूख से मुक्ति के लिए भी अहिंसा ही एक उपाय हो सकता है।

अब तक का अनुभव यह बताता है कि संसाधनों का अनवरत विकास विषमता के विषदंत को खीलने में सफल नहीं रहा। जीवन निर्वाह से लेकर सहज-सरल जीवनयापन के लिए हमने जो-कुछ भी अनुसूचित किया, उन सबका उत्पादन बढ़ाने में कोई कसर नहीं रखी, पर विषमता को फिर भी नहीं खीला जा सका। अतः यह समझना जरूरी है कि संसाधन बढ़ा देने से ही विषमता समाप्त नहीं हो सकती। विषमता का शमन तो समता में ही निहित है और इसका बीज है अहिंसा की गर्भ-नाल में। जाहिर है कि हिंसा से मुक्ति के लिए विषमता से मुक्त होना होगा जो अहिंसक समाज-रचना से ही संभव है। कहा जा सकता है कि भूख से मुक्ति के लिए अहिंसा ही एक कारगर उपाय हो सकता है।

— शुभू पटवा

विमर्श

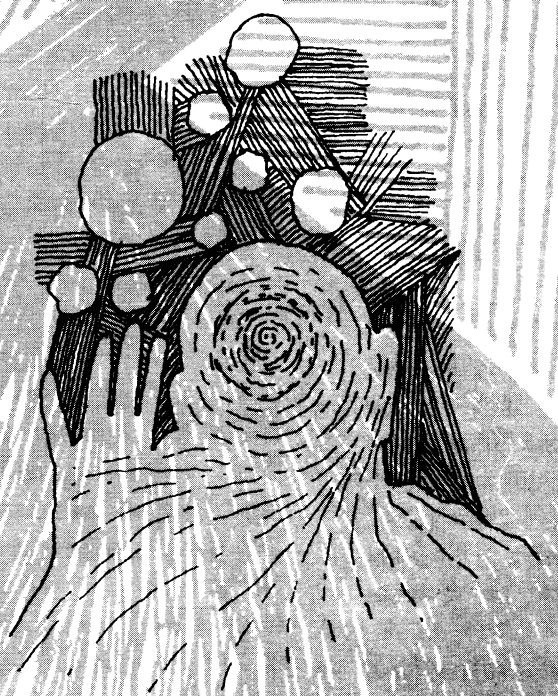

आध्यात्मिक साधना की तटस्थता भावमूलक है। यह समझना गलत है कि आध्यात्मिक जीवन में मानवीय भावजगत का निषेध है। कलात्मक अनुभव के समान आध्यात्मिक अनुभव तटस्थता की मांग करता है, क्योंकि सृजनशीलता के स्तर पर मूल्यों की निर्वैयक्तिक उपलब्धि ही संभव है। कलात्मक सृजन में अन्य मूल्यस्थितियों का अंतर्भाव रहता है और सृजनशीलता में इन सबसे तटस्थ या निरपेक्ष रहकर रचनात्मक मूल्योपलब्धि संभव होती है, जबकि आध्यात्मिक जीवन में अन्य मूल्यों का अतिक्रमण कर परम श्रेयस् की ओर उन्मुख सृजनशील संभावनाओं की उपलब्धि का प्रयत्न होता है। कलात्मक अनुभूति तथा आध्यात्मिक अनुभूति में यह अंतर महत्त्वपूर्ण है। पहले तो कलात्मक अनुभव का परम मूल्य के रूप में कोई लक्ष्य नहीं होता; दूसरे, वह केवल उपलब्धि का विषय नहीं है, अभिव्यक्ति का विषय भी है। आध्यात्मिक जीवन के लिए चाहे जितना धुंधला या अस्पष्ट हो पर परम श्रेयस् रूप चरम मूल्य निर्दिष्ट होता है और अभिव्यक्ति उसकी अनिवार्यता नहीं है। परंतु सृजनात्मक स्तर पर कला की सौंदर्यानुभूति और अध्यात्म की रहस्यानुभूति अपने निर्वैयक्तिक रूप में इतने निकट आ जाती है कि एक में दूसरे का संक्रमण होना संभव होता है। काव्यानुभूति की उच्चतम भूमि आध्यात्मिक रहस्यानुभूति के समान विराटत्व, अनंतता, अद्वैत, पूर्णानंद, अस्तित्वबोध को आत्मसात कर लेती है। और आध्यात्मिक रहस्यानुभूति में न केवल सौंदर्य, माधुर्य तथा अन्य कोमल सूक्ष्म संवेदनाओं का अंतर्भाव रहता है, वरन् काव्य के समान मिथकों, प्रतीकों, बिंबों, रूपकों में वह अभिव्यक्ति भी ग्रहण करती है।

—प्रो. रघुवंश

राज, समाज और हिंसा

पंकज

आए दिन चारों ओर से हिंसक टकराहटों की खबरें सुनने को मिलती हैं। कभी यह मानकर चला जाता था कि सामान्यतः हर भारतीय अहिंसा-प्रिय, शांति-प्रिय होता है और हिंसा कुछ असामाजिक तत्त्वों का काम है, जिसे पुलिस को दबा देना चाहिए। लेकिन अब हिंसा, जितने स्तरों पर, जितने रूपों में फूटती दीखती है कि अगर यही स्थिति रही, तो इससे निपटते रहने के लिए दस-पंद्रह नागरिकों के पीछे एक पुलिस वाले की जरूरत पड़ेगी। तब हमारा भारतीय समाज कैसा होगा?

आखिर क्यों हो रही हैं ऐसी घटनाएं? ऐसा तो है नहीं कि स्वाधीनता के बाद भारत में अन्याय, अभाव और अव्यवस्था ही बढ़ी हो और हिंसा उसी का परिणाम हो। ऐसा भी नहीं है कि देश के भीतर हिंसा आधुनिक प्रौद्योगिकी का अनिवार्य परिणाम हो। हकीकत तो उलटी ही है। जिस यूरोप में हिंसक वर्ग-संघर्ष को अवश्यंभावी माना जाता था, वहां आधुनिक प्रौद्योगिकी के विकास के साथ-साथ श्रमिक संगठनों के प्रबंधक वर्ग से संबंध ज्यादा मीठे होते गए हैं। उनके बीच लेन-देन की व्यावहारिक बुद्धि ही बढ़ी है, हिंसा नहीं।

इसी तरह अंग्रेजों के जमाने की तुलना में आज के भारत में लोगों के पास आर्थिक साधन बढ़े हैं, एक प्रकार की समृद्धि आई है। अब न वैसा अपमान सहना पड़ता है, न वैसा दमन होता है। शासन के प्रति वैसा आतंक-भरा भाव भी अब किसी वर्ग में नहीं है, क्योंकि राज्य-सत्ता और प्रबंधकीय ढांचों में अब ऊंचे स्थानों पर ऐसे लोग नहीं हैं जो किसी दूसरी ही नस्ल के हों। अब तो जो लोग शीर्ष स्थानों पर भी हैं, उनके कुल और शील के इतिहास और उनके वर्तमान से समाज परिचित है। उनसे संबंध रखने और बनाने के तरीकों से लोग अवगत हैं। ऐसी स्थिति में हिंसा को तो लगातार घटना चाहिए था। फिर वह बढ़ती क्यों दीख रही है?

हमारा राज्य हमारी अपनी आकांक्षाओं और प्रयासों का प्रतिनिधि हो, हम स्वराज्य से संपन्न हों—यही गांधीजी की और भारतीय समाज की इच्छा थी। औपनिवेशिक सत्ता के हस्तांतरण के द्वारा वह इच्छा पूरी नहीं हो सकी। रह-रहकर फूटने वाली हिंसाएं उसी का फल हैं। जो भी समूह अपने अपमान से क्षुब्ध होता है, और सशक्त होता है, वह हिंसा पर उतारू हो जाता है। क्योंकि राज्य ने समाज के साथ कोई संवाद नहीं रखा है। वोट लेना संवाद नहीं है। लोगों में एक राष्ट्र का अंग होने की चेतना को जागृत रखना ही संवाद है। किंतु हमारे वर्तमान राज्यकर्ता समूह इससे घबराते हैं। वे राष्ट्र की कभी-कभार बात करते हैं, पर शेष समय गरीबी, आबादी, प्रगति आदि की ऐसी बातें करते हैं, जिनका कोई ऐतिहासिक संदर्भ नहीं होता। मानो ये कोई कालातीत चीजें हों।

कुछ ऐतिहासिक वास्तविकताओं को हमें याद करना होगा।

हमारी स्वाधीनता के समय हिंदू-मुस्लिम दंगों के रूप में हिंसा का तांडव हुआ। उसके तत्काल बाद तेलंगाना में लोगों ने हिंसक उपद्रव किए। ठीक इसी समय भारत का संविधान बना। निजाम हैदराबाद द्वारा प्रोत्साहित रजाकारों ने हिंसा का नाच कर रियासत का संघ में विलय रोकने की कोशिश की। उसके बाद उत्तरपूर्वी सीमावर्ती अंचलों—नगालैंड, मिजोरम आदि में हिंसक विद्रोह हुए। फिर पूरे देश में आए दिन जगह-जगह पुलिस की गोलियां चलने लगी थीं।

इधर पिछले कई सालों में हिंसा कई रूपों में फैली है। असम के लोगों ने शांतिपूर्ण ढंग से अपनी बातें उठाईं, किंतु उन्हें बार-बार पुलिस और सेना की मार सहनी पड़ी, त्रिपुरा में वनवासियों और पुलिस में हिंसक मुठभेड़ें हुईं। पंजाब में हिंदू-सिख तनाव उभरा और सिख किसानों ने अपनी मांगें मनवाने के लिए कई उग्र उपाय अपनाए। शासक दल ने उन मांगों के प्रति उससे भी ज्यादा

अमर्यादित रवैया अपनाया। पंजाब से लेकर दिल्ली तक बार-बार हिंसा का तांडव होता रहा।

यह घटनाक्रम नाकाफी लगे, तो हम भारतीय इतिहास के और तथ्यों को देख सकते हैं और दुनिया के इतिहास पर भी नजर डाल सकते हैं। प्राचीन भारत में और विश्व में जो आपसी हिंसक संघर्ष दिखेंगे, वे सभी एक समूह द्वारा दूसरे पर आधिपत्य स्थापित करने के प्रयासों और उन प्रयासों के प्रतिकारों के रूप में होंगे। भारत में जब-जब विदेशी आक्रमण हुए, तो वे भी आधिपत्य की ही लालसा से हुए। समकालीन विश्व में भी जहां-जहां युद्ध और हिंसा हो रही है, वह भी ऐसी लालसा का नमूना है। इसलिए जो लोग यह तर्क देते हैं कि बढ़ती हिंसा वस्तुतः गरीबी एवं बेरोजगारी का परिणाम है, उनका तर्क बिल्कुल निराधार तर्क है। जब-जब युद्धों और हिंसक प्रयासों को संगठित किया गया है, गरीबी मिटाने के लिए नहीं, अपने आधिपत्य के विस्तार अथवा पुनर्स्थापन के लिए ही किया गया है।

हिंसा राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रभुत्व की लालसा का अथवा खोए हुए राजनीतिक-सांस्कृतिक आत्मगौरव की पुनर्प्रतिष्ठा की लालसा का नतीजा है। हिंसा गरीबी का नतीजा नहीं है। बल्कि एक तरह की गरीबी ही हिंसा का परिणाम है। लेकिन सभी तरह की गरीबी हिंसा का फल नहीं है। वस्तुतः दुनिया को गरीबों और अमीरों में बंटी देखना और दिखाना एक कुटिल राजनीति मात्र है। गरीबी या अमीरी व्यक्तियों, समूहों या समाजों का मौलिक लक्षण नहीं है। गरीबी और अमीरी के विविध रूप और विविध हेतु होते हैं। एक तरह की गरीबी सजग संकल्प का भी परिणाम होती है। जैसे किसी भी आदर्श के लिए अपनी संपूर्ण क्रियाशीलता को नियोजित करने के संकल्प से उपजी गरीबी। पर इसे सचमुच गरीबी कहना ही भ्रांति होगी। क्योंकि ऐसे व्यक्ति या समूहों को अपनी वह दशा गरीबी की नहीं लगती। इन आदर्शों में आर्थिक समृद्धि भी एक आदर्श है। भारत में और दुनिया में भी ऐसे बहुत लोग मिल जाएंगे, जिन्होंने एक अवधि तक अनेक कष्ट सहे, अपनी जरूरतें न्यूनतम रखीं और लगातार तब तक उसी दशा में उद्यम में जुटे रहे जब तक पर्याप्त आर्थिक समृद्धि प्राप्त नहीं कर ली। उद्यम तो वे बाद में भी जारी रखते हैं, पर पर्याप्त समृद्धि आ जाने पर स्वेच्छा से वरण की गई उस गरीबी को त्याग देते हैं। संस्कृति, विद्या, कला, राजनीति आदि क्षेत्रों में भी ऐसे लोग देखे जा सकते हैं। ऐसी गरीबी किसी हिंसा का परिणाम नहीं होती।

कई बार कई समाजों में ऐसे सांस्कृतिक आदर्श मान्य होते हैं, जिनमें जिस व्यक्ति या समूह के पास जितने अधिक सांस्कृतिक एवं विद्यादि के अधिकार होते हैं, उसे उतना ही ज्यादा संयमित और पवित्र जीवन जीना पड़ता है। दूसरी तरफ अपेक्षया बहुत ज्यादा सुविधाओं तथा आर्थिक समृद्धि वाले समूहों को उतना उच्च सम्मान प्राप्त नहीं होता। चीन तथा भारत की सभ्यता के इतिहास में ऐसे अनेक दौर आए हैं, जब सादगी और साधनात्मक संयम आभिजात्य का अनिवार्य अंग मान्य रहा है। स्पष्टतः वह दशा दीखती तो गरीबी की है, पर वह किसी तरह की हिंसा का फल नहीं होता।

गरीबी किसी तरह की हिंसा का फल होती है तो ऐसी गरीबी जिसमें किन्हीं समूहों के सांस्कृतिक-राजनीतिक अधिकार कोई दूसरे समूह छीन लेते हैं। यानी जब और जहां दो या अनेक समूह परस्पर एकात्मकता का भाव नहीं रखते, अनेक को एक ही समाज का अंग नहीं मानते, वहीं एक समूह की गरीबी किसी दूसरे समूह या समूहों द्वारा उसके साथ की गई हिंसा का परिणाम होती है। ऐसी स्थिति में वह हिंसा अमीरी के लोभ-भर का नतीजा नहीं होती, दूसरे समाजों को नीचा दिखाने की इच्छा का भी फल होती है।

दुनिया-भर में हिंसा के मुख्य कारण यही रहे हैं— अपने वर्चस्व का ऐसा विस्तार करने की लालसा, जो दूसरों को अपमानित करे, दबाए। मनुष्य मूलतः एक मननशील प्राणी है और इसीलिए उसकी हिंसा किसी विचार या योजना का ही फल होती है।

जब गांधीजी ने यह कहा कि भारत एक अहिंसा-प्रधान संस्कृति का देश है, तब उसके पीछे भी यही ऐतिहासिक तथ्य था कि शताब्दियों से मूल भारतीय मनीषा अपने बारे में, दूसरों के बारे में और संसार के बारे में जिस तरह से मनन और निर्णय करती रही है, उसके परिणामस्वरूप यहां अहिंसा को लोकजीवन में गहरी प्रतिष्ठा मिली है। निश्चय ही यहां भी राजनीतिक युद्ध लड़े जाते रहे हैं, परस्पर मार-काट भी होती रही है, लेकिन जिसे आधुनिक शब्दावली में विश्व-दृष्टि और जीवन-दृष्टि कहते हैं, भारत की उस विश्व-दृष्टि और जीवन-दृष्टि में अहिंसा एक केंद्रीय तत्त्व रही है।

भारतीयों ने सुदीर्घ अनुभवों एवं स्मृति के आधार पर यह निश्चय कर रखा था कि प्रकृति से हमारा जो रिश्ता है, वह मां और संतान का या समग्र और अंश का रिश्ता है। हम इस प्रकृति के ही अंश हैं, इससे भिन्न नहीं हैं। इसलिए प्रकृति में और हम में कोई विरोध नहीं है। हमारी विकृतियों और असंतुलन से प्रकृति में तथा प्रकृति की विकृतियों और

असंतुलन से हम में विकार तथा असंतुलन आता है। अतः हमारे जीवन के लिए जो कुछ प्राकृतिक साधन-स्रोतों का क्षय होता है, उनको पुनः प्राणवान करना हमारा धर्म है। इसी में हमारा परम स्वार्थ है कि हमारे जीवन के क्रम में जो अनिवार्य हिंसा या क्षय होता है, उसकी पूर्ति यथासंभव होती रहे। क्योंकि उसकी अधिकता से खुद हमारा क्षय व नाश निश्चित है। इसी तरह, समाजों के परस्पर संबंधों की स्मृति से हमारे पूर्वज इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि अगर हम दूसरों की जीवन-दृष्टि का अपमान करेंगे तो आज भले ही वे निर्बल हों, कल वे सबल होकर फिर हमारी जीवन-दृष्टि का भी अपमान कर सकते हैं, क्योंकि इतिहास की गति चक्रीय है।

इतिहास की इस चक्रीय गति को मानना ही दर्शन में अहिंसा को मानना है। इतिहास एवं दर्शन में बहुत घनिष्ठ संबंध है और इतिहास संबंधी बोध दार्शनिक दृष्टि से तथा दार्शनिक दृष्टि इतिहासबोध को प्रभावित करती है। प्रकृति के अनुभवों और ऐतिहासिक स्मृतियों के बल पर हमारे पूर्वजों ने जाना कि जीवन अक्षय और सनातन है। उसका कभी अंत नहीं होता, केवल रूपांतरण होता है। और जिस तरह जन्म, वृद्धि, प्रौढ़त्व और क्षय संपूर्ण सृष्टि में निरंतर चक्रीय क्रम से गतिशील हैं, उसी तरह प्रकृति के एक अंश मानव-जीवन में भी वे स्वभावतः मौजूद हैं। इसलिए जीवन का सम्मान सबसे पवित्र अवधारणा है और अहिंसा सबसे पवित्र धर्म। जीवन-चक्र को भंग करना सबसे भीषण अधर्म है। इस दृष्टि के अनुरूप ही भारतीय राजा भी जब युद्ध में किसी राज्य को पराजित कर विजय का वरण करते थे तो सबसे पहले उस राज्य की जनता के इष्ट-देवताओं की ही पूजा करते थे, उनकी जीवन-दृष्टि को अभय देते थे, उनकी पूजा-पद्धतियों को सम्मान देते थे।

यही कारण है कि जब भारतीयों ने सुदूर चीन, साइबेरिया, मंगोलिया, तिब्बत, बर्मा, ईरान, अफगानिस्तान, थाईदेश, कम्पूच्या, मलयेशिया, विएतनाम, कोरिया, जापान आदि

हिंसा का स्रोत

❑ साध्वी दर्शनविभा ❑

समय सब-कुछ अपने साथ बहा ले जाता है। जीवन से जुड़ी घटनाएं भी समय के साथ बह जाती हैं। अपने सुख-दुख को समय के साये में दफनाकर व्यक्ति फिर से अपनी नई जीवन यात्रा का प्रारंभ करता है। लेकिन समय के इस प्रवाह में कुछ पल ठहर जाते हैं। वे पल भीतर गहरे में जाकर अवस्थित हो जाते हैं। समय भी मुड़-मुड़ कर उन्हें ही देखता है। वे ही पल व्यक्ति के लिए प्रेरक बनकर उसके भीतर दबे महावीर और गांधी को जगा सकते हैं। दूसरी ओर उसे आतंकवाद की ओर भी ढकेल सकते हैं। उसके भीतर छिपे महान कलाकार को भी जन्म दे सकते हैं, तो उसे अवसाद के गर्त में भी गिरा सकते हैं। इस उतार-चढ़ाव के साथ हर व्यक्ति अपनी जीवन नौका को खेता चला जाता है।

मेरे जीवन से जुड़ी एक घटना बार-बार मुझे प्रेरित कर रही है। यह घटना मेरे सामने प्रेरणास्रोत के रूप में खड़ी है। मैं आचार्यप्रवरश्री महाप्रज्ञजी की सन्निधि में बैठी थी। मेरे पास बंदर की आकृति का एक रबड़ था। मैंने वह रबड़ एक बाल मुनि को दे दिया। वे बाल मुनि उसे लेकर आचार्य के पास गए और रबड़ दिखाया। 'तुम इसका क्या करोगे?' आचार्यप्रवर के पूछने पर बाल मुनि ने कहा—'अक्षर मिटाऊंगा।' 'अरे! यह तो बंदर है। इससे अक्षर कैसे मिटाओगे? पशु को कापी पर कैसे घिसा जा सकता है? इसलिए यह रबड़ वापस दे दो।' बाल मुनि मेरे पास आए। मुझे सारी बात की अवगति दी। मेरा मन ग्लानि से भर गया। मैं तो इतने दिन ऐसी ही आकृति वाले रबड़ काम में लेती रही थी। मेरे भीतर तो ऐसी कोई संवेदना कभी जगी नहीं। मुझे लगा—पूज्य गुरुदेव की हर कोशिश से संवेदना का स्रोत बह रहा है। जो करुणा चेतन के प्रति है, वही करुणा अचेतन के प्रति भी है।

मन में विकल्प उठा—आज हिंसा की जड़ें गहरी बनती जा रही हैं। व्यक्ति के भीतर की संवेदना सो गई है। बंदूक की भाषा बहुत सहज और सरल हो गई है। अहिंसा शब्द तो आज शास्त्रों के नीचे दबकर रह गया है। क्यों? समाधान मिला—व्यक्ति जीवन के अनेक पड़ावों से गुजरता है, हर पड़ाव से वह कुछ संस्कार ग्रहण करता हुआ आगे बढ़ता है। उन्हीं संस्कारों की बुनियाद पर उसके जीवन का महल खड़ा होता है।

तीन से पांच वर्ष का समय व्यक्ति के जीवन का पहला पड़ाव है। उस अवस्था में बच्चा जो-कुछ सीखता है वह खिलौनों

पृष्ठ 13 पर →

देशों में अपना सांस्कृतिक प्रभाव प्रतिष्ठित किया, तब भी उन देशों की सांस्कृतिक परंपराओं का नाश नहीं किया, उनका सम्मान किया और उन्हीं में स्वयं भी घुल-मिल गए। इसी जीवन-दृष्टि के प्रभाव से यहां भी जब शक, हूण, कुषाण आदि आए तो यहीं की परंपराओं में घुल-मिल गए और उनमें अपना भी योगदान दिया। अहिंसा का राजनीति में व्यावहारिक रूप यही था। अन्यथा सेनाओं के बीच युद्ध यहां भी होते ही रहते थे। पर अहिंसक आदर्श के कारण सैनिक युद्धों की मर्यादाएं निश्चित थीं, वे कृषि, उद्योग या जीवन का विनाश नहीं कर सकती थीं।

दूसरी ओर कृषि एवं प्रौद्योगिकी की किसी भी नई खोज के लिए यह एक कसौटी थी कि वह सृष्टि-चक्र को भंग न करे तथा प्रकृति से जो ले, उसे यथाशक्ति लौटाए। यह अहिंसा का लोक-व्यवहार वाला रूप था। इसमें अपने परिवेश को प्रधानता देना अनिवार्य था। फलतः कृषि-उपजों के रूप और ढांचे, मकानों आदि के रूप और उनमें लगने वाले कच्चे माल के रूप, खान-पान और व्यवहार के विविध रूप तथा उद्योगों के रूप परिवेश की विविधता के अनुरूप विविध होते थे। कहीं मुख्यतः चावल खाने वाले लोग हैं, कहीं गेहूं, कहीं ज्वार-बाजरा, कहीं अन्य आहार वाले, कहीं एक तरह के मिट्टी-पत्थर का उपयोग अच्छा माना जाता है, कहीं दूसरी तरह के, कहीं एक तरह के कृषि और वन-उपज पर आधारित उद्योग हैं, कहीं दूसरी। यह विविधता ही लोक-व्यवहार में अहिंसा की अभिव्यक्ति थी। कानून भी इसलिए सिर्फ राज्यकर्ता समूह नहीं बन सकता था। विविध पंचायतों और श्रेणियों के अपने नियमों का पूरा-पूरा सम्मान संबंधित राज्य में अनिवार्य था। बड़ी-बड़ी व्यापारिक श्रेणियां थीं, जो व्यापक लोक-हित के अधीन स्वायत्त रूप में काम करती थीं। राज्य की न्याय-व्यवस्था में उनका प्रतिनिधित्व अनिवार्य था।

दूसरी ओर यूरोपीय दृष्टि है, हमसे विपरीत उसमें प्रकृति और मनुष्य के बीच अनिवार्य संघर्ष की मान्यता है। वहां प्रकृति पर विजय पाने की कामना होती है और इसके निरंतर प्रयास होते हैं। इसी के साथ वहां मनुष्य मानता है कि जो 'फिटेस्ट' है, प्रकृति पर विजय पाने में सर्वाधिक समर्थ है उसे ही 'सरवाइवल' का, जीवित रहने का अधिकार है। बाकी सब उसकी अधीनता में रहें और उसी के लिए हों। यूरोपीय समाजों के जो सेमेटिक धर्म हैं, वे भी सब-के-सब ममेश्वरवादी हैं। यानी वे सिर्फ अपनी ही आस्था का आधिपत्य चाहते हैं। आधुनिक नास्तिकता और मार्क्सवादी भी इस दृष्टि से ममेश्वरवादी ही हैं। हां, ऐसी नास्तिकता, जो अपनी दृष्टि को विवेकपूर्ण माने और दूसरों के साथ तर्क करे उसे ममेश्वरवादी नहीं कहा जा सकता। किंतु जो नास्तिक लोग दूसरों को हिंसा एवं बल-प्रयोग के द्वारा नास्तिक होने को बाध्य करें, वे ममेश्वरवादी ही कहलाएंगे। यूरोपीय नास्तिकता एवं मार्क्सवाद में ऐसी प्रवृत्ति अंतर्निहित है। इस्लाम और ईसाइयत तो ममेश्वरववादी पंथ हैं ही।

पहले मुगल आक्रमण के द्वारा और फिर ब्रिटिश आक्रमण से भारत की अहिंसक समाज-रचना क्षत-विक्षत हुई। ताजा अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो गया है कि ऊंच-नीच की भावना को पराकाष्ठा तक ले जाने की प्रेरणा समर्थ हिंदुओं को अंग्रेजी राज में दी गई। सोलहवीं शताब्दी तक भारत में संत रविदास, धन्ना, पीपा, सेन, नामदेव, कबीर आदि महापुरुषों को व्यापक सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी। निश्चय ही कुछ ब्राह्मण इनके घोर विरोधी थे, पर इनके समर्थक ब्राह्मण भी कम नहीं थे। संत रविदास के प्रश्न पर काशी में एक प्रचंड शास्त्रार्थ हुआ था, जिसकी अध्यक्षता तत्कालीन काशी-नरेश ने की थी। उसमें एक ओर रविदास विरोधी पंडित थे, दूसरी ओर उनके पक्षधर ब्राह्मण भी। मीरा संत रविदास की शिष्या बनीं। संत दादू का भी प्रभाव राजस्थान एवं गुजरात के अनेक राजघरानों पर था। स्वयं संत कबीर के अनेक राजा शिष्य बने। प्रत्येक संत-मत के प्रसार में राज्याश्रय का भी महत्त्वपूर्ण योग रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू में भी भारत में लगभग 600 छोटी-बड़ी रियासतें थीं, उनमें से सवा तीन सौ से ज्यादा रियासतों में तथाकथित पिछड़ी जातियों और वनवासियों का राज था। दिल्ली-पंजाब में सिखों-जाटों-गूजरों की रियासतें थीं। उत्तरप्रदेश, बिहार और मध्यप्रदेश में जगह-जगह कुर्मियों, अहीरों, तेलियों, नाइयों, केवटों आदि की रियासतें थीं। गुजरात में पटेलों और महाराष्ट्र क्षेत्र में मराठों का आधिपत्य था। दक्षिण में वोक्कालिंगा, गौड़ा, वल्लाल, रेड्डी आदि जाति-समूहों के राज्य थे।

प्रख्यात इतिहासवेत्ता धर्मपाल ने खुद ब्रिटिश दस्तावेजों के साक्ष्य से ये निष्कर्ष स्थापित किए हैं कि अठाहरवीं शताब्दी तक यद्यपि भारत की अपनी सामाजिक व्यवस्था क्षत-विक्षत हो चली थी, तब भी भारत में हर जगह शिक्षा और विद्या के केंद्र थे। खुद एडम ने अपनी बहुचर्चित रिपोर्ट में कहा है कि अठारहवीं शती में बंगाल-बिहार के हर गांव में कम-से-कम एक देसी स्कूल था और कुल एक लाख देसी स्कूल इस राज्य में थे। पंजाब की स्वदेशी शिक्षा के बारे में भी ऐसे ही साक्ष्य मिले हैं। मद्रास प्रेसीडेन्सी के तो बहुत विस्तृत आंकड़े मिले हैं। इन सभी से यह स्पष्ट होता है कि

उन दिनों भी भारत में चमार, भंगी, चांडाल समेत सभी तथाकथित हरिजनों और पिछड़ी जाति के लोगों को मंदिरों एवं अन्य विद्या केंद्रों में शिक्षा मिलती थी और प्रारंभिक तथा माध्यमिक शिक्षा के शिक्षक भी सभी जातियों के होते थे। ऊंच-नीच का कुछ प्रभाव तो था, पर वह मर्यादित था। भारत के किसी भी राज्य में कोई भी स्मृति या धर्मशास्त्र कभी भी 'लॉ-बुक' के रूप में मान्य नहीं था। भारत में न तो राज्यतंत्र और न ही पुरोहित न्याय के नियमों के मूल निर्धारक थे। लोक द्वारा मान्य न्याय-नियमों के प्रकाश में विभिन्न पंचायतों और व्यापारिक श्रेणियों के नियमों के संयोजन के साथ ही राज्य न्याय-व्यवस्था करता था। मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों को 'लॉ-बुक' के समकक्ष हैसियत पहली बार अंग्रेजी राज में ही दी गई। अंग्रेजों के राज में ही भारतीय धर्मशास्त्रों में ऐसे प्रक्षिप्त अंशों का समावेश प्रोत्साहित किया गया, जिनके द्वारा भारतीय समाज में आपसी घृणा बढ़े और यह समाज फूट का शिकार हो। ऐसे कुछ प्रयास शुरू तो मुगल-काल से ही हो गए थे और अल्लोपनिषद् जैसे ग्रंथ रचाए गए थे, पर ब्रिटिश राज में यह कार्य काफी व्यवस्थित रूप में हुए। उसी समय कुछ ब्राह्मणों को फुसलाकर धर्मशास्त्रों में से खोज-खोजकर ऐसे अंश चुने गए, जिनसे अंग्रेजों द्वारा लादी गई व्यवस्थाएं भारतीय परंपरा की ही कड़ी में सिद्ध की जा सकें। अंग्रेजों के सहयोगी ब्राह्मणों और धर्माचार्यों को धन व शक्ति दी गई। दक्षिण के एक प्रसिद्ध शंकराचार्य को ब्रिटिश-भक्ति के फलस्वरूप यह निरंकुश अधिकार दे दिया गया कि जाति-बहिष्कार जैसे सभी महत्त्वपूर्ण सामाजिक-धार्मिक मामलों में, उस क्षेत्र में उनका ही निर्णय सर्वमान्य होगा। जबकि इसके पहले ऐसे विषयों का निर्णय क्षेत्रीय शिष्ट-परिषदों के द्वारा होता था, जिसमें हर वर्ग और हर आश्रम का एक-एक प्रतिनिधि तथा संबंधित कुछ समूहों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे।

अंग्रेजों ने जब देशी उद्योगों और व्यवस्थाओं को नष्ट किया, तब इसके लिए

पृष्ठ 11 से

के माध्यम से सीखता है। उसके सामने ढेर-सारे खिलौने होते हैं। वे प्रायः पशु-पक्षी की आकृति में होते हैं या बंदूक आदि के रूप में होते हैं। इसी तरह बच्चे की अत्यधिक प्रिय वस्तु होती है—चॉकलेट। उसे भी आजकल किसी-न-किसी पशु-पक्षी के आकार में ढाल दिया गया है। बच्चा बड़े चाव से उसे खाता है। बच्चे के उपयोग में आने वाली सामग्री के ऊपर भी अधिकांशतः या तो पशु-पक्षी की आकृति होगी या किसी कार्टून की। उसके कमरे को भी ऐसी ही सामग्री से सजाया जाता है। बच्चा निरंतर उन्हें ही देखता है, उनके साथ क्रीड़ा करता है, उन्हीं का उपयोग करता है। बच्चे की ये सारी क्रियाएं अव्यक्त रूप से उसके मन और मस्तिष्क पर अपना प्रभाव छोड़ जाती हैं।

मैंने एक घटना पढ़ी—पांच वर्ष का सोनू प्रतिदिन अपनी मां के साथ किसी साहब के घर जाता। उनके घर एक पालतू कुत्ता था। मां तो काम में लग जाती। वह बच्चा कुत्ते की दूध-ब्रेड आदि खाने से लेकर कुत्ते के कार में घूमने तक की सारी क्रियाएं देखता रहता था। मां तो सोचती कि बच्चे का यहां मन लग गया है।

कुछ दिन बाद मां अपने बच्चे को लेकर स्कूल गई। अध्यापक ने मां से अनेक प्रश्न किए। फिर सोनू से सवाल पूछा—'तुम क्या बनना चाहते हो?' बच्चे ने तपाक से उत्तर दिया—'साहबजी का कुत्ता।' बालक में ये संस्कार कहां से आए?

आज बाल-अपराध बढ़ रहे हैं। एक बालक भी आज बंदूक की भाषा को बहुत अच्छी तरह जानता है। इसका जिम्मेवार कौन है? आज बालक आंख खुलने से लेकर सोने तक जो भी क्रियाएं करता है, जो-कुछ देखता है या सुनता है, जिनके साथ जीता है—उनमें कौन-सी ऐसी क्रियाएं होती हैं जो उसके भीतर मूल्यों के संस्कार देती हैं? उसे देशभक्ति सिखाती हैं? उसमें सत्य की निष्ठा पैदा करती हैं? सहानुभूति की प्रेरणा देती हैं?

हम भावी पीढ़ी से यह आशा करते हैं—उनमें से कोई महावीर, गांधी या बुद्ध पैदा हो। हरिश्चंद्र जैसा सत्यवादी प्रकट हो—कैसी विडंबना है! आक के बीजों का वपन कर के हम आम पैदा करना चाहते हैं!

बालक कुछ बड़ा होता है। उसकी समझ विकसित होती है। वह जीवन की अगली अवस्था में पैर रखता है। आजकल उसके जीवन निर्माण में 'टी.बी.' की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो जाती है। टी.वी. पर कार्टून आदि दृश्यों को वह बड़े चाव से देखता है। उन दृश्यों से वह सीखता है—एक से प्रेम करना, एक को मारना, गोलियां चलाकर विजयी बनना। दूसरों को धोखा देना। ये दृश्य उसे आनंदित

पृष्ठ 15 पर →

समाज में फूट और घृणा को भी बढ़ाना जरूरी समझा। ऊंच-नीच की भावना को भयंकर रूप इसी काल में मिला। भारतीय समाज के अधिकार भी इसी समय छीने गए। सन् 1850 के संग्राम की विफलता के बाद तो भारतीयों से शस्त्र भी छीन लिए गए। किसी भी भारतीय द्वारा अस्त्र-शस्त्र रखना निषिद्ध हो गया।

गांधीजी ने जब अहिंसक संघर्ष को अपना आधार बनाया, तब उसके पीछे यह समग्र ऐतिहासिक बोध था। 1887-88 के बाद अगर भारत में हिंसक संघर्ष चलाया जाता तो उसकी पहल भारतीय समाज के अधिकार में न रहती, बल्कि अंग्रेजी राज से लाभान्वित परिवारों के ही हाथ में रहती। यही कारण है कि भारत में बीसवीं शताब्दी में जो सशस्त्र क्रांतिकारी हुए, वे प्रायः सभी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोग या उनके मित्र थे। पंडित चंद्रशेखर आजाद एक सम्मानित अपवाद हैं। अपनी लड़ाई जनता खुद लड़े, यह अहिंसा की आधारभूत शर्त है। शस्त्र-ग्रहण न करना उसी का आनुषंगिक रूप है। गांधीजी जानते थे कि अगर उन्होंने हिंसा को उभरने दिया, तो संग्राम की पहल भारतीय समाज के हाथ से छीन ली जाएगी। ब्रिटिश राज भारत पर हिंसा का ही साकार रूप था और समाज की स्वीकृति के बिना चली हिंसा अंततः उस राज के लिए सहायक बनती।

किंतु, दुर्भाग्यवश 15 अगस्त, 1947 के बाद भी राज्य का वही रूप बना रहा, जो हिंसा पर टिका है। भारतीय संविधान में भारतीय समाज को वोट देने जैसे अधिकार तो दिए गए, पर भारतीय राज्य भारतीय समाज की इच्छा एवं आदर्श के अनुसार चले, इसकी कोई व्यवस्था नहीं की गई। इस संविधान में अमरीका, रूस तथा विभिन्न यूरोपीय देशों की छाप तो है, पर भारत के अपने इतिहास और संस्कृति की छाप नहीं है। उसका कारण भी इतिहास के विद्यार्थी मानते हैं। संविधान-सभा में ही यह सब आरोप लगाए जा चुके थे। पर उस समय देश अस्थिरता और अनिश्चय के दौर में था, अतः सबको समझा-बुझाकर शांत कर दिया गया। देश की एकता की चिंता से लोगों ने अपने विरोध को प्रखर रूप नहीं दिया।

आज स्थिति यह है कि जो शिक्षा-धाराएं, जो उद्योग-कौशल, जो सांस्कृतिक रूप ब्रिटिश राज में नष्ट किए गए, उन्हें पुनः प्राणवान बनाने के लिए राज करने वालों में कोई उत्सुकता नहीं है। नतीजतन इन शिक्षा-धाराओं, शिल्पों, उद्योगों आदि से जुड़े लोग जिस दशा में थे, वे उसी दशा में हैं और अंग्रेजी राज में ताकतवर बनी शिक्षा तथा उद्योग आदि की धाराओं से जुड़े लोगों के पास असीम ताकत है। दोनों के बीच उचित आदान-प्रदान की कोई व्यवस्था नहीं है।

वनवासियों का उदाहरण इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्नीसवीं शती तक भारत में अनेक वनवासी रियासतें थीं। मुंडा, संथाल, सतनामी, गोंड़, बैगा, खैरवार, मिजो, मैती, कोल, कोरवा, किरात आदि विभिन्न वनवासी समूहों के पास अपने राज्य थे। ये राष्ट्र के अभिन्न अंग थे। अंग्रेजों ने एक-एक करके इनको छीना और नष्ट किया। भारतीय परंपरा के अनुसार राजा भूमि का उतना ही स्वामी है कि राजा ही संपूर्ण राष्ट्रीय साधन-स्रोतों का स्वामी है, राज्य को राष्ट्रीय साधन-स्रोतों के अपने मन मुताबिक पुनर्वितरण का अक्षय अधिकार है। अतः अंग्रेजों ने भारत के भी समस्त साधन-स्रोतों का स्वामी स्वयं को घोषित कर दिया। वनों के भी वे स्वामी हो गए। 1894 में राष्ट्रीय वन-नीति घोषित हुई और वनवासियों को वन-भूमि, वनों के जल, वृक्ष, जड़ी-बूटी, कंदमूल, फल आदि के स्वामित्व से वंचित कर दिया गया। वन सरकारी समूह की संपत्ति हो गए। फिर पुरानी सामाजिक व्यवस्थाएं भी नष्ट कर दी गईं। पहले वनों में चराई का समय, शिकार का समय, वनस्पतियों, जड़ी-बूटियों को तोड़ने का समय सदा समाज द्वारा निर्धारित और मर्यादित रहता था। अब राज्य के अफसर यह तय करने लगे। पहले हर गांव के पास अपना सार्वजनिक चरागाह और सामुदायिक वन-क्षेत्र होता था। अब सब सरकारी संपत्ति है। स्वाधीन भारत में भी यही स्थिति जारी है। वनवासियों को वोट देने का हक तो है, पर वनों पर उनका कोई स्वामित्व मान्य नहीं है। आए दिन लाखों वनवासी उजड़ने को बाध्य होते रहते हैं और शहरों में आकर मजदूरी करने के लिए विवश हैं।

मतलब यह कि वर्तमान भारतीय संविधान के अंतर्गत भारतीय समाज की समस्त संपत्ति और संपूर्ण प्राकृतिक साधन-स्रोतों का स्वामी राज्य है। इसका व्यावहारिक रूप यह हुआ कि बड़े अफसर और बड़े सत्तासीन नेता ही भारतीय राष्ट्र के समस्त साधन-स्रोतों के स्वामी मान्य हैं। वे जो चाहें, कानून बनाएं। जनता उनकी गलती से नाराज होकर बस एक की जगह दूसरी पार्टी को चुन सकती है। पर राज्य से जनता का रिश्ता स्थिर है। जनता से पूछकर कोई कानून नहीं बनाया जाता। प्रायः अफसर ही कानूनों के प्रारूप तैयार करते हैं। चतुर नेता भी इसमें अपनी भूमिका निभाते हैं। प्रारूप रचकर फिर जनता से स्वीकृति पाने का प्रयास होता है। इस तरह कानून राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रतिनिधि नहीं रह जाते।

सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन का नियंत्रण भी राज्यतंत्र के अधीन है। दूसरी ओर, संविधान में राज्य-नीति के जो निदेशक सिद्धांत हैं, उनके अनुसार भारतीय राज्य की सीधी जिम्मेदारी लोगों के लिए बस आर्थिक प्रणाली संबंधी कुछ विशिष्ट व्यवस्थाएं करने की ही है। उसमें भी अगर राज्य विफल रहे, तो उसके मुख्य लोगों को क्या दंड दिया जाए, इसकी व्यवस्था नहीं है। राज्यतंत्र यदि संविधान से परे का एक तंत्र रच ले तो उसे रोक पाने की कोई भी व्यवस्था नहीं रहने दी गई है। योजना आयोग एक ऐसा ही संविधान बाह्य तंत्र है। जिले और राज्य के अफसर राजस्व एवं करों आदि की वसूली तथा योजनाओं के अमल के जिम्मेदार हैं, पर यदि उन योजनाओं से जिलों और राज्यों का नुकसान हो, तो उसके लिए अफसरों को समुचित दंड देने की व्यवस्था नहीं है। खुद सरकारी आंकड़ों के अनुसार गलत ढंग से सिंचाई-योजनाएं लागू करने के कारण लगभग 16 करोड़ हेक्टर उपजाऊ भूमि दलदली और ऊसर बन चुकी है, पर इसका दंड किसी योजना या प्रशासनिक अफसर को नहीं भोगना पड़ेगा। किसी राज्य में सूखा पड़े या बाढ़ आए और उसके लिए कुप्रबंध उत्तरदाई हो, तब भी बड़े अफसरों को कोई दंड नहीं मिलेगा। यह सब भारतीय परंपरा के अनुसार न्याय के सर्वथा विपरीत है। यही राज्यतंत्र की समाज पर हिंसा है।

यह राज्यतंत्र समाज के प्रति हिंस्र भाव तो रखता ही है, छल और दुराव के भाव भी रखता है। गोपनीयता के भयंकर कानून हैं, जिनके चलते आप वैज्ञानिक तथा औद्योगिक परियोजनाओं के बारे में वे मोटी बातें तक जान नहीं सकते, जिनका राज्य की सुरक्षा से कोई संबंध नहीं है। भोपाल गैस त्रासदी के समय अंत तक यह स्पष्ट न होना कि लीक हुई गैस मिक थी या कुछ और, उसमें फास्जीन था या नहीं, यह इस गोपनीयता का ताजा और दारुण प्रमाण है। बांध, रासायनिक खाद, उन्नत खेती, नई परिवहन व्यवस्थाएं, नए औद्योगिक संस्थान, कीटनाशक दवाएं, रासायनिक कारखाने आदि के बारे में इतनी गोपनीयता बरती जाती है कि आश्चर्य और क्षोभ होता है।

पुलिस का वर्तमान रूप भी राज्यतंत्र की हिंसा का एक प्रमाण है। भारतीय परंपरानुसार पुलिस को पंचायतों तथा स्थानीय निकायों के अधीन रहना चाहिए और सेना को राष्ट्रीय पंचायत के, किंतु हमारे यहां पुलिस तक अफसरों और मंत्रियों के अधीन है। मुख्यतः तो अफसरों के

पृष्ठ 13 से

करते चले जाते हैं। पर बाल-मानस पर कुसंस्कार भी छोड़ जाते हैं। समय के साथ इन्हें पोषण मिलता रहता है, एक दिन मानवीय दुर्बलता के रूप में ये ही बातें उभरकर सामने आती हैं।

एक अमेरिकन युवा अपने घर में एक भारतीय व्यक्ति से बात कर रहा था। वहां उसका बच्चा शोर मचाने लगा। अमेरिकन पिता को अच्छा नहीं लगा। पिता ने कहा—'चुप रहो, शोर मत करो।' पिता की धमकी का उत्तर देते हुए बच्चे ने कहा—'खबरदार! मुझे कुछ कहा तो शूट कर दूंगा।'

छह वर्ष का बालक मार देने की धमकी देता है। बालक में ये संस्कार कहां से आए? आज का बालक वय से पहले समझदार कैसे बन गया? मान-अपमान की भाषा कैसे सीख गया? कौन हैं इसके जिम्मेवार? ये प्रश्न हर दायित्वशील व्यक्ति के गाल पर एक तमाचा हैं।

दूरदर्शन का विकास हुआ। कहां तो एक सुनहरी कल्पना की गई थी कि इसके माध्यम से बच्चों में संस्कारों की पौध लहराएगी, ज्ञान-विज्ञान की धाराएं विकसित होंगी। लेकिन विकास की दौड़ ने क्या दिया? मार-काट और गोली के संस्कार, पारस्परिक संबंधों में दूरियां, स्वार्थोन्मुखी दृष्टिकोण। आज भारतीय आत्मा और उसकी गरिमामई परंपराएं घुटकर रह गई हैं। मानवीय संवेदनाओं के साथ पारस्परिक संबंधों को भी तार-तार कर दिया है।

कारण स्पष्ट हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में—'हमारे मस्तिष्क में पाशविक और आध्यात्मिक—दोनों वृत्तियों के प्रकोष्ठ हैं। जिस प्रकोष्ठ को उत्तेजना मिलती है, पोषण मिलता है, अनुकूल वातावरण मिलता है—वे ही वृत्तियां उभरकर सामने आ जाती हैं। वे वृत्तियां पाशविक भी हो सकती हैं और आध्यात्मिक भी।

बालक स्वयं ही खड़ा आज प्रश्न पूछ रहा है—'आपने मेरे संस्कार निर्माण के लिए क्या किया?, मैंने आतंकवाद की ओर कदम क्यों बढ़ाए?, अहिंसा के प्रति मेरी आस्था क्यों नहीं है?, मुझे उत्तर चाहिए—आज की बढ़ती हिंसा का जिम्मेवार कौन है?' ❖

ही अधीन। यदि पुलिस को अफसरों और मंत्रियों के अधीन रहना है तो उसकी व्यवस्था का कुल खर्च इन्हीं अफसरों एवं मंत्रियों के वेतन में से काटकर निकालना जरूरी है। ऐसा न करना समाज के साथ हिंसा का ही एक रूप है। हमारे यहां तो ग्रामरक्षक, पुररक्षक एवं स्थानीय न्यायालय आदि स्थानीय समाज के अधीन होते थे। हर क्षेत्र में उत्पादन का लगभग तीन-चौथाई हिस्सा वास्तविक उत्पादकों के पास रहता था और एक-चौथाई हिस्सा राजस्व के रूप में देय होता था। इस उत्पादन के पचीस प्रतिशत राजस्व का भी सिर्फ बीसवां अंश ही केंद्रीय कोष में जाता था, यानी कुल उत्पादन का सवा से डेढ़ फीसदी केंद्रीय राजस्व ही हमारी परंपरा में मान्य है। राजस्व का शेष अंश सांस्कृतिक-शैक्षणिक संस्थाओं तथा स्थानीय प्रशासन के लिए स्वतः ही स्थानीय इकाइयों के पास रहा आता था। इसी अंश में से स्थानीय रक्षकों यानी पुलिस की भी व्यवस्था होती थी।

वर्तमान संविधान ने भारत की इन सभी वैधानिक परंपराओं को समाप्त घोषित कर एक सीमित वर्ग के पास अंततः अधिकार केंद्रित कर दिए। आधुनिक राज्यतंत्र के अधिकार अनंत हैं, कर्तव्य अल्पतम। वह राष्ट्र के समस्त साधन-स्रोतों का मनमाना पुनर्वितरण करने को स्वतंत्र है। यह समाज पर हिंसा का असली रूप है।

हमारा राज्य हमारी अपनी आकांक्षाओं और प्रयासों का प्रतिनिधि हो, हम स्वराज्य से संपन्न हों—यही गांधीजी की और भारतीय समाज की इच्छा थी। औपनिवेशिक सत्ता के हस्तांतरण के द्वारा वह इच्छा पूरी नहीं हो सकी। रह-रहकर फूटने वाली हिंसाएं उसी का फल हैं। जो भी समूह अपने अपमान से क्षुब्ध होता है, और सशक्त होता है, वह हिंसा पर उतारू हो जाता है। क्योंकि राज्य ने समाज के साथ कोई संवाद नहीं रखा है। वोट लेना संवाद नहीं है। लोगों में एक राष्ट्र का अंग होने की चेतना को जागृत रखना ही संवाद है। किंतु हमारे वर्तमान राज्यकर्ता समूह इससे घबराते हैं। वे राष्ट्र की कभी-कभार बात करते हैं, पर शेष समय गरीबी, आबादी, प्रगति आदि की ऐसी बातें करते हैं, जिनका कोई ऐतिहासिक संदर्भ नहीं होता। मानो ये कोई कालातीत चीजें हों।

प्रगति नाम की कोई सार्वभौम चीज नहीं है। आज के जो देश अत्यंत समृद्ध हैं, वे पिछले डेढ़-दो सौ वर्षों में ही प्रगतिशील हुए हैं। इसके पहले ये हर क्षेत्र में भारत से पीछे ही थे। नई ऐतिहासिक खोजों से यह सिद्ध हो गया है। फिर, इनकी प्रगति मात्र विज्ञान का फल नहीं थी, बल्कि अन्य समाजों के साथ किए गए छल और अत्याचार का भी फल थी। औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के बिना यह समृद्धि असंभव थी। गांधीजी ने यह बात बार-बार कही है। 'हिन्द-स्वराज' में तो इसका विवेचन है ही, उन्होंने बार-बार स्पष्ट किया है कि पश्चिमी ढंग की प्रगति भारत भी तभी कर सकता है, जब वह संसार के अन्य क्षेत्रों को अपना उपनिवेश बनाए या देश के भीतर एक समूह दूसरे का औपनिवेशिक शोषण करे।

इतिहास और विज्ञान के आधुनिक तथ्य इसे पुष्ट कर रहे हैं।

जहां तक भारत की गरीबी की बात है, वह विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं का ही फल है। हां, प्रच्छन्न लूट के कारण मानसिक गरीबी अधिक बढ़ी है और यूरोपीय बुद्धि पर निर्भरता में भी वृद्धि हुई है। किंतु गरीबी के कारण हिंसा नहीं है और इसीलिए गरीबी सिमटने पर भी हिंसा सिमटेगी नहीं, बल्कि फैल ही सकती है।

समाज राज्य से बड़ा है। राज्य उसका एक छोटा-सा अंश है। अतः राज्यतंत्र की हिंसा की ओर बार-बार ध्यान दिलाना समाज का काम है। ऐसे में राज्यकर्ता वर्ग को अपनी गलती सुधारनी ही पड़ेगी। दुर्भाग्यवश, गांधीजी के बाद से भारतीय समाज में इसकी पहल नहीं हुई। गांधीवादियों ने भी नहीं की। वे राज्य के और यूरोपीय विचारधाराओं के छद्म विस्तारक बन गए। वे भी समाज में अपने पंथ का प्रभाव फैलाने में जुट गए। शेष पार्टियां तो उस दिशा में प्रवृत्त थीं ही। मानो सारा देश परायों और अनाथों का घर हो! जिस पर कब्जा जमाने को हर समूह प्रतिस्पर्धी हो उठा है। समाज की भावना और इतिहास का बोध विस्मृत रहा। सह-अस्तित्व और सह-जीवन की आधारभूत शर्तें व्यवहार में विलुप्त रहीं। इनके ही फलस्वरूप चतुर्दिक आज हिंसा का विस्तार दीखता है। ❖

कुछ साहित्य समाज को बदलने के काम आ सकता है, लेकिन श्रेष्ठ साहित्य समाज को बदलता नहीं, उसे मुक्त करता है। फिर उस मुक्ति में समाज के लिए—और हां, संस्कृति के लिए, मानवमात्र के लिए—बदलाव के सब रास्ते खुल जाते हैं।

—अज्ञेय

भाषा में हिंसा : एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

डॉ. बी.पी. गौड़

यह देखा जाता है कि कई बार भाषा के प्रयोग में हिंसा का वाचिक आक्रामक व्यवहार नजर आता है। व्यक्ति ऐसे शब्दों का प्रयोग कर बैठता है जो व्यक्ति, परिवार, समाज या संस्कृति पर प्रतिकूल असर डालते हैं या इनके प्रतिमानों के अनुरूप नहीं होते हैं। प्रकारांतर से ऐसी भाषा का उद्देश्य किसी को कष्ट एवं क्षति पहुंचाना या उसे समाप्त करना ही होता है। वस्तुतः हिंसा, सामाजिक रूप से स्वीकृत न होने वाली, आक्रामक व्यवहार की पराकाष्ठा है।

भाषा में हिंसा के प्रयोग को निम्नांकित दृष्टिकोणों से देख सकते हैं—

(1) संप्रेषण के समय भाषा में कटु वचनों का प्रयोग कर अन्य लोगों या प्राणियों को आहत करने, दुख एवं मानसिक क्षति पहुंचाने का प्रयास करना।

(2) भाषा में अभद्र एवं अशिष्ट वचनों का प्रयोग कर किसी को कष्ट/दुख पहुंचाना या आहत करना।

(3) संप्रेषण की भाषा में अश्लील या क्षुद्र शब्दों का प्रयोग कर किसी को आहत करना।

(4) स्वयं के प्रति कटु वचनों, अभद्र शब्दों या अश्लील शब्दों का प्रयोग कर स्वयं को आहत करना (स्वयं के प्रति हिंसा)।

(5) दूसरों से कटु वचनों, अभद्र शब्दों या अश्लील शब्दों को कहलाकर स्वयं को आहत करवाना (स्वयं के प्रति वाचिक हिंसा)।

प्रायः हर व्यक्ति चाहता है कि वह किसी भी प्रकार के संप्रेषण में सामान्य एवं आदर्श भाषा का प्रयोग करे। इसके लिए वह पूरा प्रयत्न भी करता है, परंतु कुछ कारकों के कारण यह संभव नहीं हो पाता एवं व्यक्ति न चाहते हुए भी हिंसात्मक भाषा का प्रयोग कर बैठता है। व्यक्ति हिंसात्मक भाषा का प्रयोग क्यों करता है? इसे समझने के लिए हमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से हिंसा की उत्पत्ति को समझना अत्यावश्यक है।

मानव की व्यावहारिक भाषा में हिंसा को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने के लिए हमें सर्वप्रथम हिंसा एवं मानव व्यवहार को समझना आवश्यक है। शास्त्रों में तीन प्रकार की हिंसा का उल्लेख किया गया है—(1) मानसिक, (2) वाचिक और (3) कर्मणा। मानसिक रूप से आक्रामक व्यवहार मानसिक हिंसा है। शब्दों या भाषा में इसका प्राकट्यकरण वाचिक हिंसा है और शारीरिक रूप से इसका प्राकट्यकरण कर्मणा हिंसा कहलाती है।

भाषा पहले मानसिक रूप से उत्पन्न होती है। फिर उसे शब्दों के समूहों में वाणी द्वारा प्रकट किया जाता है। भाषा व्यक्ति के भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति है। भाषा की शब्दावली से व्यक्ति के मनोभावों को जाना जा सकता है। अतः संप्रेषण के समय व्यक्त भाषा एवं उसमें प्रयुक्त शब्दों के विश्लेषण से हम व्यक्ति की मानसिक स्थिति एवं मनोभावों को जान सकते हैं। हिंसात्मक भाषा का प्रयोग करना व्यक्ति की हिंसात्मक प्रवृत्ति को दर्शाता है, क्योंकि भाषा संप्रेषण का वाचिक माध्यम है। अपने में मानसिक रूप से उत्पन्न हुई हिंसा को व्यक्ति भाषा के माध्यम से वाचिक रूप में प्रकट करता है, इसके पश्चात शारीरिक रूप से।

हिंसात्मक भाषा की उत्पत्ति

प्रायः हर व्यक्ति चाहता है कि वह किसी भी प्रकार के संप्रेषण में सामान्य एवं आदर्श भाषा का प्रयोग करे। इसके लिए वह पूरा प्रयत्न भी करता है, परंतु

कुछ कारकों के कारण यह संभव नहीं हो पाता एवं व्यक्ति न चाहते हुए भी हिंसात्मक भाषा का प्रयोग कर बैठता है। व्यक्ति हिंसात्मक भाषा का प्रयोग क्यों करता है? इसे समझने के लिए हमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से हिंसा की उत्पत्ति को समझना अत्यावश्यक है।

(1) **मूल प्रवृत्तियां**—मनोविश्लेषण सिद्धांत के जन्मदाता फ्रायड ने हिंसात्मक व्यवहार के लिए मूल प्रवृत्तियों को जिम्मेवार माना है। उनके अनुसार व्यक्ति में दो प्रकार की मूल प्रवृत्तियां पाई जाती हैं—(1) जीने की मूल प्रवृत्ति तथा (2) मरने की मूल प्रवृत्ति। फ्रायड के अनुसार व्यक्ति जीना भी चाहता है और मरना भी चाहता है। यदि फ्रायड के इस सिद्धांत को सही माना जाए तो व्यक्ति में हिंसा एवं अहिंसा दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। फ्रायड के अनुसार हिंसात्मक व्यवहार मूल प्रवृत्ति मृत्यु के कारण ही होता है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप व्यक्ति स्वयं को नष्ट करना चाहता है, परंतु व्यवहार में इसका प्रेक्षण अन्य लोगों पर हिंसात्मक व्यवहार द्वारा करता है। कभी-कभी इस प्रवृत्ति के कारण वह अपने-आप को भी क्षति पहुंचाता है, अर्थात् अपने स्वयं के प्रति भी हिंसात्मक व्यवहार करता है। जैसे सामान्य तौर पर हम देखते हैं कि व्यक्ति क्रोध या आक्रामक अवस्था में अपना सिर पीट लेता है या अपने शरीर के अंगों को काटता है या नोंचता है। इस तरह वह अपने शरीर को क्षति पहुंचाने का प्रयत्न करता है। जब यह व्यवहार अतिरंजित हो जाए तो व्यक्ति आत्महत्या भी कर सकता है। इस प्रकार 'मृत्यु मूल प्रवृत्ति' को व्यक्ति दूसरों के साथ वाचिक एवं शारीरिक हिंसा कर तृप्त करता है।

इसी तरह जीवन या जीने की मूल प्रवृत्ति के व्यवहार के अंतर्गत व्यक्ति अपने जीवन का एवं दूसरों के जीवन का अस्तित्व बनाए रखने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार का व्यवहार एक तरह से अहिंसक व्यवहार कहा जा सकता है। इन व्यवहारों को वाचिक एवं शारीरिक रूप से प्रकट करने के लिए व्यक्ति भाषा में अपमानजनक, आपत्तिजनक, कटु वचन, क्षुद्र वचन, अश्लील शब्दों का प्रयोग करके दूसरों को क्षति पहुंचाने का प्रयत्न करता है। व्यक्ति शारीरिक रूप से हिंसात्मक व्यवहार की अभिव्यक्ति लड़ाई-झगड़ा, दंगा-फसाद एवं मारपीट द्वारा दूसरों को क्षति पहुंचाकर करता है। इसी तरह अहिंसक व्यवहार में भाषा के प्रेमपूर्वक मृदु शब्दों का प्रयोग कर अपना प्रेम वाचिक रूप से प्रकट करता है। शारीरिक रूप से किसी का जीवन बचाना, प्यार से थपथपाना, आलिंगन करना आदि शारीरिक अहिंसक व्यवहार का प्रकटीकरण है।

(2) **कुंठा परिकल्पना**—प्राणी में उत्पन्न कुंठा उसे आक्रामक व्यवहार करने को प्रेरित करती है। जब आक्रामक व्यवहार अतिरंजित हो जाए तब भाषाई या शारीरिक हिंसा पैदा होती है। कुंठाओं एवं आक्रामक व्यवहार की उत्पत्ति का मूल कारण व्यक्ति या प्राणी की मूल आवश्यकताएं हैं। हर प्राणी इन मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहता है। यदि इन आवश्यकताओं की पूर्ति न हो या इनकी पूर्ति में बाधा आ जाए तो प्राणी में तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। दीर्घकाल तक भी यदि इन आवश्यकताओं की पूर्ति न हो पाए तो तनाव कुंठा में बदल जाता है और कुंठा आक्रामक व्यवहार पैदा करती है। यही आक्रामक व्यवहार हिंसा का कारण बन जाता है। चूंकि मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य प्राणी मूक होते हैं, अतः वे केवल शारीरिक हिंसा ही करते हैं। जबकि मनुष्य वाचिक—भाषाई एवं शारीरिक हिंसा दोनों कर सकता है।

मूल रूप से मनुष्य में दो प्रकार की आवश्यकताएं होती हैं जो जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत रहती हैं। ये आवश्यकताएं हैं—(1) शारीरिक या कायिक आवश्यकताएं एवं (2) सामाजिक आवश्यकताएं।

शारीरिक या कायिक आवश्यकताओं में भूख, प्यास, यौन, निद्रा एवं स्वप्न व विश्राम सम्मिलित हैं। इसी तरह सामाजिक आवश्यकताओं में सुरक्षा और प्रतिष्ठा सम्मिलित हैं। इन्हीं आवश्यकताओं के बीच समूचा मानव जीवन-चक्र चलता है। जीवन-भर व्यक्ति इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए संघर्ष करता रहता है।

हिंसात्मक शब्दों का प्रयोग क्यों?

भाषा में हिंसात्मक शब्दों के प्रयोग में व्यक्ति प्रायः अभद्र शब्दों, कटु शब्दों, अपमानजनक, अशिष्ट एवं अश्लील शब्दों का प्रयोग कर दूसरों को आहत करने, उनको कष्ट एवं क्षति पहुंचाने का प्रयत्न करता है। वैयक्तिक भिन्नता के कारण इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से होता है। वास्तव में भाषा में वह छुपी हुई मानसिक हिंसा है जिसको व्यक्ति शारीरिक क्रिया द्वारा प्रकट न कर वाचिक रूप से प्रकट करता है।

कुंठाओं से ग्रस्त लोग अपने हिंसात्मक तनावों का विरेचन भाषा में हिंसात्मक शब्दों का प्रयोग कर करते हैं। इसी तरह चिंताग्रस्त लोग अपने अचेतन मन में पड़े हुए हिंसात्मक व्यवहार को भाषा के द्वारा हिंसात्मक शब्दों का प्रयोग करते हुए प्रदर्शित करते हैं। कुल मिलाकर व्यक्ति की

मानसिक स्थिति, उसकी चिंताएं, उसके तनाव, उसकी कुंठाएं एवं बाह्य वातावरण—जो उसकी आवश्यकता की पूर्ति में बाधक हैं—उसके व्यवहार में हिंसात्मक भाषा का प्रयोग करने के लिए उतरदाई हैं।

आदतन हिंसक भाषा का प्रयोग

कई व्यक्तियों में संप्रेषण के समय भाषा के वाक्यों में कुछ विशेष शब्दों को बार-बार बोलने की आदत पड़ जाती है। जैसे—किसी वाक्य में जो है, जो है, जो है, या ऐसा कि, ऐसा कि, ऐसा कि...जैसे शब्दों की पुनरावृत्ति कई बार होती है। इस प्रकार के वाचिक व्यवहार को 'वरबल साइकोटिक प्रोबलम' कहते हैं। यह क्रिया व्यक्ति के अचेतन मन में पड़े किसी विशेष तनाव को प्रदर्शित करती है। इसी तरह कुछ व्यक्ति अपनी भाषा में हिंसात्मक एवं अश्लील शब्दों का बार-बार प्रयोग करते हैं। इन शब्दों का बार-बार प्रयोग अचेतन मन से होता है और व्यक्ति को इसका भान ही नहीं रहता कि वह क्या बोल रहा है। अतः अचेतन मन से भी व्यक्ति हिंसात्मक शब्दों का प्रयोग भाषा में करता रहता है। इस प्रकार की भाषा का प्रयोग प्रायः ग्रामीण क्षेत्रों में, पिछड़े वर्ग के लोगों एवं पुलिसकर्मियों में अधिक पाया जाता है।

कई बार भाषा में हिंसात्मक शब्दों का प्रयोग बच्चे या बड़े लोग नकल के रूप में भी करते हैं। कालांतर में यह नकल एक अधिगम (लर्निंग) का रूप ले लेती है और इस अधिगम की बारंबारता से व्यवहार में सबलीकरण हो जाता है और इससे एक आदत का निर्माण हो जाता है। फिर इसका प्रयोग अनायास ही व्यक्ति की भाषा में होने लगता है।

हिंसात्मक भाषा के क्षेत्र

भाषा में हिंसात्मक शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न रूप से होता है। इनमें से मुख्य कारक हैं—(1) परिवार, (2) समाज, (3) संस्कृति, (4) कार्य-स्थल और (5) मीडिया।

पारिवारिक परिवेश के अंतर्गत परिवार में रहने वाले सदस्यों के संप्रेषण के तरीके एवं भाषा, सदस्यों की स्थिति, जैसे—मानसिक स्थिरता, तनाव, चिंताएं एवं कुंठाओं आदि का विशेष प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक स्थिति एवं परिवार की संरचना का भी भाषा संप्रेषण पर प्रभाव पड़ता है। भग्न परिवार एवं आर्थिक रूप से कमजोर परिवार में वाद-विवाद एवं लड़ाई-झगड़ों में प्रायः हिंसात्मक भाषा का प्रयोग होता है।

इसी तरह सामाजिक परिवेश में रहने वाले लोग, उनके व्यावहारिक क्रिया-कलाप, रहने का ढंग आदि भी विशेष कारक हैं। झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने वाले लोग एवं पिछड़े समाज के लोग भाषा में हिंसात्मक शब्दों एवं क्षुद्र शब्दों का बहुतया प्रयोग करते हैं।

भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में रहने वाले लोगों की भाषा भी भिन्न-भिन्न होती है, जिनमें हिंसात्मक शब्दों एवं क्षुद्र शब्दों का प्रयोग होता है। विशेष रूप से निम्नवर्ग-जाति के लोग, घुमक्कड़ जाति के लोग, आदिवासी एवं कबीलों के परिवारों के सदस्य हिंसात्मक भाषा का प्रयोग करते हैं। प्रायः इनमें बोलने एवं संप्रेषण का ढंग भी कुछ इस प्रकार विकसित हो जाता है कि ये हिंसक एवं निम्न स्तर के शब्दों के प्रयोग को बुरा ही नहीं मानते। कुछ पिछड़े हुए विशेष वर्गों एवं जातियों में हिंसात्मक शब्दों का प्रयोग जैसे गाली-गलौच, अश्लील एवं अभद्र शब्दों का प्रयोग छोटे बच्चों एवं बड़े लोगों में प्रचलित एवं मान्य है। इनके प्रयोग को समाज के सदस्य बुरा नहीं मानते। परंतु दूसरी ओर विकसित संस्कृतियों एवं सभ्य समाज में ऐसी भाषा का प्रयोग करने वाले लोगों को हेय दृष्टि से देखा जाता है।

कई कार्यस्थलों पर भी भाषा में हिंसा सामान्य बात है। जैसे पुलिस विभाग, कारखाने, भवन-निर्माण स्थल एवं मजदूर वर्ग के कार्यस्थलों पर हिंसात्मक भाषा का प्रयोग आम बात है। अपराधियों से सच उगलवाने के समय पुलिसकर्मियों की भाषा सामान्य या विनम्र नहीं होती, अपितु हिंसात्मक ही होती है। पुलिस विभाग या इसी तरह के विभागों में ऐसा माना जाता है कि अपराधियों से सच उगलवाने या अपराधियों का पता लगाने के लिए हिंसात्मक भाषा का प्रयोग एवं उपयोग नितांत आवश्यक है। इसी तरह उपरोक्त अन्य कार्यस्थलों पर भी हिंसात्मक भाषा का प्रयोग होता है।

आश्चर्य की बात यह है कि लोकतंत्र के पावन मंदिरों, यथा—लोकसभा, राज्यसभा एवं विधानसभाओं में भी हिंसात्मक भाषा, अभद्र एवं अश्लील शब्दों का प्रयोग होने लगा है। व्यंग्यात्मक रूप से बोली जाने वाली हिंसात्मक भाषा को अब सामान्यतः संसदीय भाषा कहा जाना भी प्रारंभ कर दिया गया है। संसद एवं विधानसभाओं में इस प्रकार की हिंसात्मक भाषा का प्रयोग हमारे राजनेताओं की अस्वस्थ मानसिकता का ही परिचायक है।

मीडिया में, विशेष रूप से दूरदर्शन पर भाषाई एवं शारीरिक हिंसा को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इनमें

वाद-विवाद, संवाद एवं संप्रेषण के तरीकों व बोलने का ढंग हिंसात्मक होता है। वर्तमान में दूरदर्शन के कार्यक्रमों में प्रायः अहिंसात्मक दृश्यों एवं संवादों की अपेक्षा हिंसात्मक दृश्य एवं द्विअर्थी संवादों को ही अधिक दिखाया जाता है। संवादों में तड़क-भड़ककर बोलना, आक्रामक होकर बोलना, निम्न स्तर के शब्दों का प्रयोग करना एवं अभद्र शब्दों का प्रयोग करना आदि दूरदर्शन पर हिंसात्मक भाषा के स्पष्ट उदाहरण हैं। अधिकांश दर्शकगण, विशेष रूप से बच्चे एवं युवा जन इन संवादों को अपने दैनिक जीवन में भी अपना लेते हैं।

स्त्री-पुरुषों में हिंसात्मक भाषा

दैहिक रचना के अनुसार स्त्री-पुरुषों में भेद है। इसी प्रकार हिंसात्मक प्रवृत्तियों में भी इन दोनों में विभेद है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष हिंसात्मक गतिविधियां ज्यादा करते हैं। काय-शास्त्रियों के अनुसार 'यौन हार्मोन्स' पुरुषों के मस्तिष्क पर जल्दी असर डालते हैं और इन्हीं कारणों से स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में हिंसात्मक गतिविधियां ज्यादा होती हैं। अपने एक अध्ययन में एडवर्ड (सन् 1971) ने मनुष्यों एवं पशुओं में नर मनुष्यों एवं पशुओं को अधिक आक्रामक एवं हिंसात्मक पाया, जबकि मादा मनुष्यों एवं पशुओं को कम। इसका कारण उन्होंने यौन हार्मोन्स का नर पशुओं एवं मनुष्यों पर शीघ्र प्रभाव होना पाया है। जब मादा मनुष्यों एवं पशुओं में नर यौन हार्मोन्स को अन्तःसूचि (इंजेक्टिंग) किया गया तो उनमें भी आक्रामक एवं हिंसात्मक क्रियाएं बढ़ गईं। एडवर्ड ने आक्रामक एवं हिंसात्मक व्यवहार का कारण नर यौन हार्मोन्स को माना है।

इस लेखक ने अपने अवलोकन में कुछ जातियों की महिलाओं को पुरुषों की अपेक्षा ज्यादा आक्रामक एवं हिंसक देखा है। ये महिलाएं पुरुषों की अपेक्षा ज्यादा आक्रामक एवं हिंसक होती हैं। इनकी भाषा में हिंसा अत्यधिक होती है। ये स्त्रियां अभद्र एवं अश्लील शब्दों एवं अश्लील हरकतों का भी खुलकर प्रयोग करती हैं।

बच्चों में हिंसात्मक भाषा

बच्चों में भी हिंसात्मक भाषा का प्रयोग देखा जा सकता है। प्रायः सभी बच्चे किसी न किसी प्रकार की हिंसात्मक भाषा का प्रयोग करते हैं। परंतु कुसमायोजित बच्चे (माल एडजस्टेड या स्ट्रीट चिल्ड्रन) जैसे— भिखारी, उठाईगीरे, अनाथ आदि हिंसात्मक भाषा का प्रयोग अधिक करते हैं। विशेष रूप से वे अपनी भाषा में निम्न स्तर के शब्दों एवं अश्लील शब्दों का प्रयोग करते हैं।

प्रतिशोध में हिंसात्मक भाषा

कई बार व्यक्ति हिंसात्मक भाषा बोलकर दूसरों के प्रति उत्तेजना या उद्दीपन पैदा करता है। दूसरा व्यक्ति इस उत्तेजना या उद्दीपन की अनुक्रिया से उत्तेजित होकर क्रिया करता है, जो पहले व्यक्ति के लिए उद्दीपन या उत्तेजना बन जाती है और पहला व्यक्ति इस उद्दीपन या उत्तेजना के प्रति उत्तेजनात्मक या आक्रामक क्रिया-प्रतिक्रिया करता है। इस तरह उत्तेजना व उससे उपजी प्रतिक्रिया की एक शृंखला बन जाती है जो अंततः हिंसात्मक रूप ले लेती है, जिसमें हिंसात्मक भाषा एवं शारीरिक हिंसा का प्रयोग होता है।

निष्कर्षतः भाषा में हिंसा का कमोबेश प्रयोग प्रायः सभी लोग करते हैं। वैयक्तिक भिन्नता एवं अन्य कारकों के कारण भाषा में हिंसा का प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। भाषा में हिंसा के प्रयोग में व्यक्ति की मानसिक स्थिति, चिंताएं, कुंठाएं, उत्तेजना एवं मन की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इनके अतिरिक्त पर्यावरण, परिवेश आदि की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

मानव-व्यवहार प्रायः विचित्र होता है। उसका अचेतन मन अथाह होता है। समुद्र की थाह मापी जा सकती है, परंतु मानव व्यवहार में उसके अचेतन मन की थाह मापना बड़ा कठिन कार्य है। उसके अचेतन मन में छिपे हिंसात्मक व्यवहार को समझना असंभव तो नहीं है फिर भी बड़ा कठिन है। अतः इस अध्ययन को भी सीमित समझा जाना चाहिए। ❖

मनुष्य का अनुमान कभी भी उसकी त्रुटियों से नहीं लगाना चाहिए। मनुष्य में जो महान सद्गुण होते हैं, वे उसके हैं। किंतु उसकी त्रुटियां मानवता की सामान्य दुर्बलताएं हैं, अतः उसके चरित्र के मूल्यांकन में उनका कोई महत्त्व नहीं होना चाहिए।

—विवेकानंद

अनुभूति

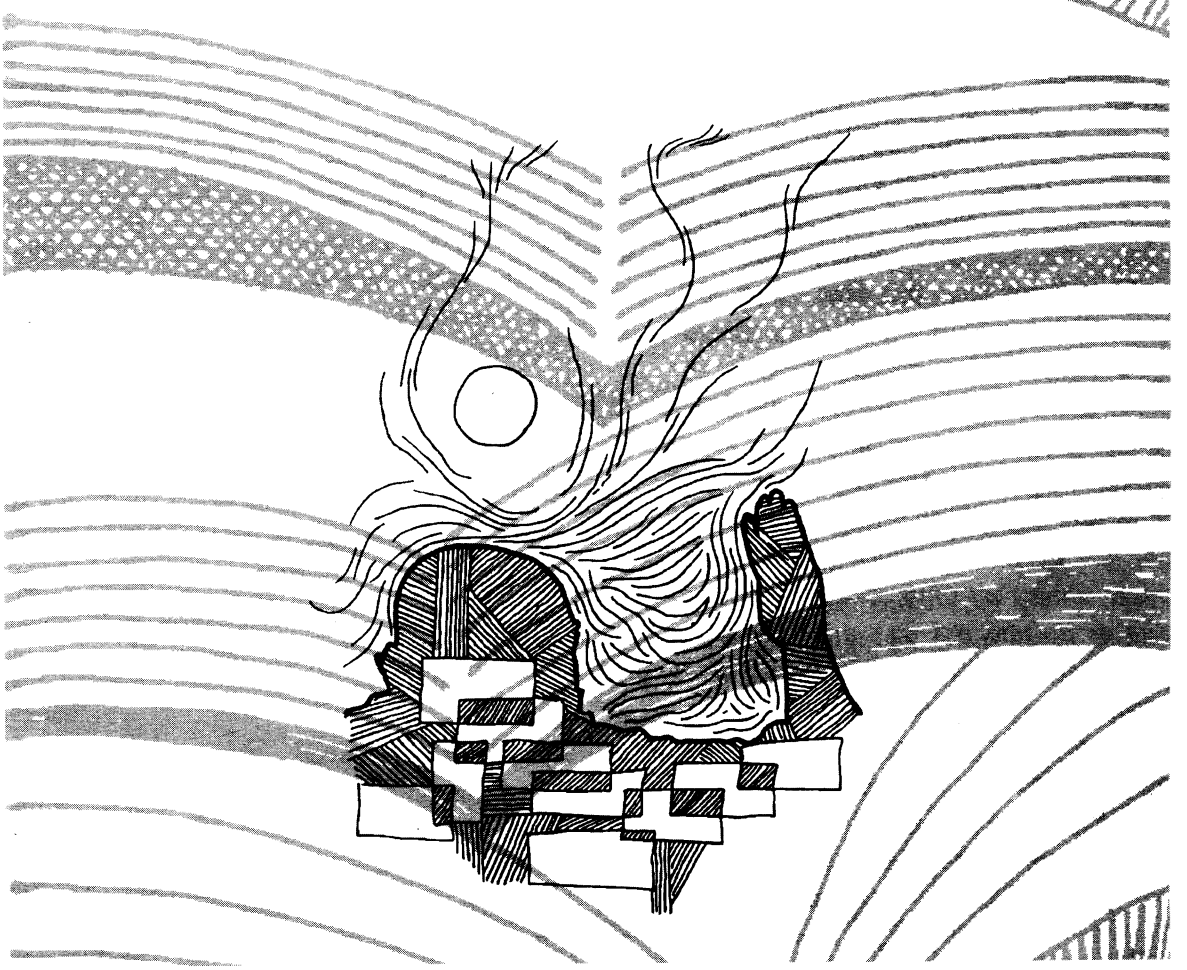

दुनिया में रहने वालो!
तुम्हें भी ऐसा ही होना चाहिए
बनाना चाहिए खुद को
सीधा और सच्चा—
इस वृक्ष की तरह

चीनी कवि बाइ जूई का कवितांश
—अनुवाद : **प्रियदर्शी ठाकुर 'ख़याल'**

क्या हो प्रयत्न की दिशा

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

मनुष्य के पास शक्ति है, इसलिए वह कुछ करने का प्रयत्न करता है, चेष्टा करता है। शक्ति होना स्वभाव है और प्रयत्न करना पुरुषार्थ है। आदमी कुछ-न-कुछ करता है, वह कभी निकम्मा नहीं रहता। एक छोटा बच्चा भी प्रयत्न करता है, एक क्षण भी वह स्थिर नहीं रहता। उसका कभी हाथ उठता है, तो कभी पैर उठता है और कभी शरीर का कोई अन्य अवयव। शायद एक क्षण भी स्थिर रहने की बात नहीं होती। क्योंकि उसके भीतर शक्ति का स्रोत है और वह शक्ति कुछ करने को प्रेरित करती रहती है।

कर्म और क्लेश की शृंखला

प्रश्न यह उठता है कि प्रयत्न किस दिशा में होना चाहिए, क्यों होना चाहिए? हम प्रयत्न क्यों करें? चेष्टा क्यों करें? प्रवृत्ति क्यों करें? इन प्रश्नों का बहुत सुंदर समाधान है—जो जन्म है, वह कर्म और क्लेश की एक परंपरा है। कर्म से क्लेश और क्लेश से कर्म—यह एक शृंखला है, एक चक्र है। व्यक्ति कर्म करता है, कर्म का बंध होता है—उससे क्लेश पैदा होता है और उस क्लेश से फिर नए कर्म का बंध होता है। क्रोध का उदय होता है, उसका हेतु है क्रोध वेदनीय कर्म। क्रोध वेदनीय कर्म का विपाक हुआ, उससे मनुष्य में क्रोध अवतरित हो गया। क्रोध आया और फिर क्रोध वेदनीय कर्म का बंध हो गया। यह चक्र बराबर चलता रहता है। इस चक्र को तोड़ना बहुत कठिन है।

जन्म क्यों होता है

जन्म क्यों होता है? मनुष्य बार-बार जन्म क्यों लेता है? एक बार मृत्यु हो गई। बस, काम समाप्त हो जाना चाहिए। किंतु ऐसा क्यों नहीं होता? इसका कारण यही कर्म और क्लेश का चक्र है। कर्म, क्लेश और जन्म—इन तीनों में एक अनुबंध है, एक निरंतरता है। तीनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। जब तक कर्म है, क्लेश है, तब तक जन्म है और जब तक जन्म है तब तक कर्म और क्लेश हैं। अगर जन्म नहीं होता तो नए सिरे से कर्म का बंध नहीं होता और क्लेश भी पैदा नहीं होता। लगता है—कर्म, क्लेश और जन्म—इन तीनों ने आपस में कोई संधि कर ली है, समझौता कर लिया है। कर्म भी रहे, क्लेश भी रहे और जन्म भी रहे, ऐसा कोई समझौता हो गया है, तभी ये तीनों साथ-साथ चलते हैं।

प्रत्येक मनुष्य के मन में यह चिंतन होना चाहिए कि मैंने जो विकास किया है, जिस भूमिका का आरोहण कर लिया है, कम-से-कम उससे नीचे तो मैं न जाऊं। ऊपर जाऊं—यह अच्छी बात है, पर कम-से-कम उससे नीचे तो न जाऊं, अधोगति तो न हो। यह चिंतन 'प्रयत्न' के लिए अपेक्षित है। हमारा प्रयत्न किस दिशा में होगा—इसका एक आधार बन जाता है कि मुझे वर्तमान दशा से कम-से-कम नीचे तो नहीं जाना है। जो प्राप्त हो गया है, जिस विकास को प्राप्त कर लिया है, उससे नीचे अविकास की ओर नहीं जाना है। इतना-सा चिंतन होता है तो 'प्रयत्न' की दिशा अपने-आप बदल जाती है।

क्लेश से आदमी को दुख होता है। कर्म से भी दुख होता है। कर्म भीतर रहता है, इसलिए पता नहीं चलता। क्रोध वेदनीय कर्म का पता नहीं चलता। जब क्रोध आता है तो आंखों में लाल डोरे पड़ जाते हैं। भृकुटि तन जाती है, होंठ कांपने लगते हैं—तब पता चलता है कि आदमी को क्रोध आया है। क्रोध का लक्षण हमारे सामने आ जाता है, क्रोध सामने नहीं आता। वह छिपकर अपना काम कर रहा है, भूमिगत होकर अपना काम कर रहा है। क्रोध का परिणाम होता है दुख। क्लेश से कर्म का बंध और दुख दोनों होते हैं।

कर्म का दबाव

व्यक्ति के मन में प्रश्न उठा—क्रोध से दुख होता है, फिर मैं क्रोध क्यों

करूं? क्रोध नहीं करना चाहिए। किंतु कर्म का इतना दबाव होता है कि व्यक्ति जानते हुए भी उसको छोड़ नहीं पाता। लोग पान पराग खाते हैं, जर्दा खाते हैं, तंबाकू, बीड़ी-सिगरेट पीते हैं। वे यह भी जानते हैं कि इनका परिणाम क्या है? कैंसर, हृदय रोग आदि भयंकर बीमारियां इनका परिणाम हैं, फिर भी वे इन्हें छोड़ नहीं पाते।

ऐसा लगता है, जैसे जीने का मोह ही समाप्त हो गया है। जिसे जीने का मोह है, वह ऐसा नहीं कर सकता कि 'मैं नहीं छोडूंगा।'

किससे मिला है जीवन

इसका कारण है—मोहनीय कर्म का प्रबल विपाक हो रहा है। हम कर्म के प्रति बहुत कम जागरूक हैं। हमने यह मान लिया कि जीवन सहज में मिल गया है और चल रहा है। किंतु जीवन किससे मिला है, इस बात पर हमारा ध्यान नहीं जाता। हम इस सचाई की ओर ध्यान नहीं देते कि जीवन अच्छा मिला है तो कर्म के कारण मिला है। आगे भी जिस गति में मिलेगा, कर्म से मिलेगा, कर्म से प्राप्त होगा। जीवन का जो मूल चिंतन है, उसे हम भुला देते हैं। हमारा प्रयत्न इस दिशा में नहीं होता कि कर्म को मंद कैसे करना चाहिए। जाने-अनजाने जो-कुछ भी होता है, उससे कर्म और अधिक तीव्र होता चला जाता है। कर्म गति को भी निम्न बना देता है।

प्रत्येक मनुष्य के मन में यह चिंतन होना चाहिए कि मैंने जो विकास किया है, जिस भूमिका का आरोहण कर लिया है, कम-से-कम उससे नीचे तो मैं न जाऊं। ऊपर जाऊं—यह अच्छी बात है, पर कम-से-कम उससे नीचे तो न जाऊं, अधोगति तो न हो। यह चिंतन 'प्रयत्न' के लिए अपेक्षित है। हमारा प्रयत्न किस दिशा में होगा—इसका एक आधार बन जाता है कि मुझे वर्तमान दशा से कम-से-कम नीचे तो नहीं जाना है। जो प्राप्त हो गया है, जिस विकास को प्राप्त कर लिया है, उससे नीचे अविकास की ओर नहीं जाना है। इतना-सा चिंतन होता है तो 'प्रयत्न' की दिशा अपने-आप बदल जाती है। चिंतन इस बिंदु पर केंद्रित हो जाएगा कि मुझे कर्म का अभाव हो, क्लेश का अभाव हो, दुख का अभाव हो—वैसा प्रयत्न करना है।

दिशा निर्धारित हो

गति का मूल्य है, किंतु यदि दिशा सही नहीं है तो गति का श्रम होगा, गति का अर्थ कुछ नहीं होगा। गति से पहले दिशा का निर्धारण होना चाहिए कि किस दिशा में जाना है। जाना है पश्चिम में और चल पड़ें दक्षिण की ओर तो मंजिल नहीं मिलेगी, श्रम व्यर्थ जाएगा। दिशासूचक यंत्र का मूल्य इसीलिए है कि उसके आधार पर वायुयान भी चलते हैं, जलयान भी चलते हैं। हमारे जीवन के लिए यह एक दिशासूचक यंत्र है कि मुझे किस दिशा में जाना है। फिर उस दिशा में 'प्रयत्न' होना चाहिए। जहां कर्म और क्लेश का क्षय हो—वह गंतव्य है। जब यह सत्य हाथ में आ जाता है, तब कहीं कोई बाधा नहीं रहती, रुकावट नहीं होती। सत्य प्रकाश की भांति बिखरा हुआ रहता है। जहां देखो—सत्य दिखाई देता है और जहां सत्य है वहां कोई समस्या नहीं रहती। बहुत-सारी समस्याएं असत्य और क्रोध का परिणाम होती हैं। इसीलिए वेदांत के आचार्यों ने इसे माया कहा है। माया असत्य है, वास्तविक नहीं है। जैन दर्शन की भाषा होगी—आदमी पदार्थ में उलझ गया, मूल द्रव्य को नहीं पकड़ पा रहा है। मूल सत्य को पकड़ पाता तो उलझता नहीं।

किस दिशा से

एक ज्योतिर्विद् राजसभा में आया। राजा ने उसका सम्मान किया और आसन दिया। राजा ने सोचा—यह वास्तव में ज्योतिर्विद् है या कोई पाखंडी—इसकी परीक्षा होनी चाहिए। ज्योतिष विद्या महत्त्वपूर्ण है, किंतु उसकी छाया में पाखंड भी तो खूब चलता है। धर्म के क्षेत्र में सचाई भी चलती है और धर्म का पाखंड भी चलता है। यही स्थिति आर्थिक क्षेत्र की है। जिसका मूल्य है—वहां पाखंड को भी पनाह मिलती है, शरण मिलती है। राजा ने उस ज्योतिषी के ज्ञान को परखने का निश्चय किया। ज्योतिषी से कहा—'महाराज! मेरा एक प्रश्न है, आप उसका उत्तर दें।'

'राजन्! आपका क्या प्रश्न है?'

'मैं राजसभा के बाद अपने प्रासाद में जाऊंगा। रात को वहां रहूंगा। मेरे प्रासाद में पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—इन चारों दिशाओं में चार दरवाजे हैं। आप बताएं—मैं सुबह किस दरवाजे से बाहर निकलूंगा?

कभी-कभी ऐसे विचित्र प्रश्न भी होते हैं। महावीर के पास एक व्यक्ति आया, बोला—'आप सर्वज्ञ हैं, सब-कुछ जानते हैं तो बताइए कि मेरे हाथ में जो तिनका है, मैं उसे तोडूंगा या नहीं?' अब यदि कहा जाए कि तोड़ोगे, तो नहीं तोड़ेगा और कहा जाए कि नहीं तोड़ोगे, तो तोड़ देगा। ये बड़ी उलझन-भरी बातें हैं।

राजा ने भी इसी तरह का उलझन-भरा प्रश्न किया। ज्योतिषी ने कहा—'राजन्, मैं आपके प्रश्न का उत्तर कागज में लिख देता हूं। वह पत्र किसी तीसरे के पास रहेगा। न वह

मेरे पास रहेगा और न आपके पास। वह पत्र मंत्री के पास रहेगा। जब आप प्रातः महल से निकलकर आएं तो उस पत्र को राजसभा में सबके सामने पढ़ें।'

ज्योतिषी के पास प्रकाश था। जहां प्रकाश होता है वहां सत्य सामने आ जाता है। सत्य का साक्षात्कार करने के बाद कोई समस्या नहीं रहती है। राजा प्रासाद में चला गया। उसके मन में विकल्प आया—ज्योतिषी ने कौन-सी दिशा का लिखा है? पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—इन चारों में से ही किसी दरवाजे का लिखा होगा। मुझे इन चारों दरवाजों से ही नहीं निकलना। उसने महल के अधिकारियों को निर्देश दिया—महल का एक हिस्सा तोड़ दो। आदेश का पालन हुआ। एक ओर का हिस्सा तोड़ दिया गया। अब एक नया रास्ता बन गया। प्रातःकाल राजा उस टूटे हुए नए मार्ग से बाहर निकला। वहां से सीधे राजसभा में पहुंचा।

राजा ने पूछा—'ज्योतिर्विद्। बताओ, मैं कौन-से दरवाजे से बाहर निकला?'

ज्योतिषी ने कहा—'राजन्! मैं अपना उत्तर पहले ही लिखकर मंत्रीजी को दे चुका हूं। आप उनसे लेकर पढ़ लें।'

मंत्री ने उस पत्र को पढ़ा। उसमें लिखा था—'महाराज! आप छत को तोड़कर बाहर निकलेंगे, किसी दरवाजे से बाहर नहीं निकलेंगे।'

सत्य की एक किरण

सत्य को पकड़ने की अनेक विद्याएं हैं, अनेक उपाय हैं। आदमी सत्य को पकड़ता है। जिस व्यक्ति ने संकल्प कर लिया कि मुझे सत्य का अनुसंधान करना है, वह व्यक्ति सत्य को पा लेता है और पकड़ लेता है। व्यक्ति सत्य को चाहे श्रुतज्ञान के द्वारा पकड़े, चाहे अवधिज्ञान के द्वारा पकड़े। श्रुतज्ञान का मूल्य भी कम नहीं है। श्रुतज्ञानी को भी केवली कहा गया है। केवली केवली है और श्रुतज्ञानी भी केवली है। श्रुतज्ञानी भी उन पर्यायों को जानता है, जिन्हें केवली जानता है। साक्षात् न जाने, पर समस्त पर्यायों को जान सकता है। यह सत्य शोध की प्रवृत्ति जागनी चाहिए। सत्य क्या है? सत्य की एक किरण है—कर्म का बंध कैसे न हो, इस सचाई को पकड़ लेना। इस सचाई को पकड़ने का अर्थ है—जीवन की दिशा का बदल जाना। एक आधार मिल गया—ऐसा 'प्रयत्न' हो, जिससे गाढ़ कर्म का बंध न हो।

निर्जरा का हेतु

कर्म दो प्रकार के होते हैं—गाढ़ बंधन वाले और शिथिल बंधन वाले। भगवती सूत्र में दोनों का विशद वर्णन किया गया है। एक व्यक्ति थोड़ा-सा तप करता है और प्रकांड निर्जरा हो जाती है, अतिशय निर्जरा हो जाती है। एक व्यक्ति बहुत तप करता है, फिर भी बहुत कम निर्जरा हो पाती है। इसका कारण क्या है? क्या यह पक्षपात है? क्या निर्जरा के क्षेत्र में भी भाई-भतीजावाद और पक्षपात चलता है? दस दिन का उपवास किया, निर्जरा कम हुई और एक प्रहर का तप किया, निर्जरा प्रचुर हो गई। ऐसा क्यों? इसका हेतु है—जिस व्यक्ति का कर्म बंधन प्रगाढ़ है, वह भारी तप करेगा, तब थोड़ी-सी निर्जरा होगी और जिस व्यक्ति के कर्म का बंधन स्वल्प है, वह थोड़ा-सा तप करेगा तो प्रचुर निर्जरा होगी। उदाहरण की भाषा में समझें। एक कपड़ा थोड़ा-सा मैला है, उस कपड़े को धोएंगे तो थोड़ा-सा पानी और थोड़ा-सा साबुन लगा कि कपड़ा साफ हो जाएगा। एक कपड़ा कीचड़ से भरा हुआ है। उसे धोने के लिए बहुत प्रयत्न करना होगा। उसमें बहुत पानी और बहुत साबुन लगेगा। साबुन से भी वह बहुत बार पूरी तरह साफ नहीं होगा। एक एरंड का पौधा है, हवा का थोड़ा-सा झोंका आएगा और उखड़ जाएगा। एक बरगद का पेड़ है, वह बड़े-से-बड़े अंधड़ को भी झेल जाएगा। क्योंकि उसकी जड़ें जमीन में काफी नीचे गड़ी हुई हैं। एरंड की जड़ें बहुत शिथिल हैं, कमजोर हैं।

धार्मिक का पहला लक्षण

व्यक्ति के मन में निरन्तर यह चिंतन रहे कि ऐसा कोई काम न करूं, जिससे कर्म का बंधन गाढ़ हो जाए, इतना चिकना बंधन हो जाए कि चिकनाहट उतरे ही नहीं। इसका अर्थ है—कर्म की एक सीमा हो गई, कर्मक्षय का एक रास्ता स्पष्ट हो गया। कर्मक्षय का पहला रास्ता है बंधन गाढ़ न हो। बहुत कठिन है गाढ़ को उखाड़ना। यह गाढ़ बंधन किससे होता है? तीव्र क्रोध है तो गाढ़ बंधन हो जाएगा। मूर्च्छा बहुत तीव्र है तो गाढ़ बंधन हो जाएगा। इसीलिए धार्मिक व्यक्ति के लिए सबसे पहला उपदेश होता है—तुम सबसे पहले ऐसा प्रयत्न करो, जिससे राग-द्वेष और कषाय प्रगाढ़ न हों, तीव्र न हों, तीव्रतर और तीव्रतम न बनें। किंतु मंद हों, मंदतर और मंदतम बनें। धार्मिक बनने का पहला लक्षण है—कषाय को मंद करने का प्रयत्न। हमारा प्रयत्न इस दिशा में हो, जिससे कर्म मंद बनें। जब कर्म मंद होगा तो क्लेश भी मंद होने लग जाएगा। क्लेश को पोषण मिलता है कर्म से। जब क्लेश को पोषण मिलना बंद हो जाएगा, तो क्लेश भी मंद हो जाएगा और दुख भी मंद हो जाएगा।

समस्या है संवेदन की तीव्रता

दुख की अनुभूति और संवेदन एक समान नहीं होते।

घटना एक होती है, किंतु संवेदन में अंतर होता है। एक आदमी दुख का तीव्रतर संवेदन करता है और एक आदमी बहुत मंद करता है। एक आदमी सोचता है—जो हो गया, वह हो गया—उस बात को टाल देता है। किंतु कुछ लोग ऐसे होते हैं कि थोड़ा-सा कुछ हो जाने पर ही उलझ जाते हैं। न सुख की रोटी खा पाते हैं और न चैन की नींद सो पाते हैं। सारा दिन तनाव में जीते हैं। इसका कारण क्लेश की तीव्रता है।

कषाय को पतला करें

प्रश्न है—क्लेश मंद कैसे बने? जैसे कर्म को मंद करें वैसे ही क्रोध को मंद करें। क्रोध कैसे मंद बने? अहंकार मंद कैसे बने? माया और लोभ मंद कैसे बनें? पतंजलि ने इनके लिए तीन-तीन प्रकार बतलाए हैं—मंद, मृदु और अधिमंद अवस्था, मृदु अवस्था और अधि अवस्था। अधि है तो मंद और मृदु कैसे बने? पतला कैसे बने?

एक मुनि गुरु के पास आया और बोला—'गुरुदेव! उपवास का प्रत्याख्यान करवा दें। आचार्य ने प्रत्याख्यान कराया और साथ में कहा—'पतली पाड़, पतली पाड़।' शिष्य ने सुन लिया। दूसरे दिन आया। सोचा—शरीर को पतला करना है तो एक उपवास से कैसे होगा? आचार्य से निवेदन किया—'प्रत्याख्यान करा दें।' गुरु ने प्रत्याख्यान कराकर कह दिया—'पतली पाड़।' यह सिलसिला चलता रहा। तीस दिन बीत गए। शरीर पतला हो गया। तीसवें दिन आया। गुरु ने फिर वही बात दोहराई—'पतली पाड़।' मुनि आक्रोश में आ गया। बोला—'क्या पतली पाडूं?' यह कहते हुए अंगुली को खींचा। अंगुली हाथ में आ गई। गुरु बोले—'मैंने इसीलिए तो कहा—पतली पाड़। मैंने यह कब कहा कि शरीर को पतला करो। मैंने कहा था, कषाय को पतला कर। तू तपस्या करता है, उपवास करता है, पर कषाय तेरा प्रबल है। इस कषाय को पतला करो।'

प्रयत्न की सही दिशा

कोई भी वीतराग नहीं है। एक गृहस्थ की बात छोड़ें। एक साधु भी वीतराग सहज में ही नहीं बन पाता है। वह उस दिशा में प्रयत्न करता है, जिससे कषाय प्रतनु बने। कर्म और कषाय दोनों को प्रतनु करना है। इसी चिंतन के आधार पर आचारशास्त्रीय अवधारणाएं बनती हैं। मनुष्य का आचार वैसा होना चाहिए, जिससे कर्म का बंध प्रगाढ़ न बने। हम जो भी आचरण करें, उसमें यह विवेक रखें कि बंधन गाढ़ न हों, कषाय प्रगाढ़ न बने, तीव्र न बने। यह सचाई समझ में आ जाए तो हमारा प्रयत्न सही दिशा में होने लग जाएगा। जब तक यह विवेक जागृत नहीं होता है, तब तक प्रबलतम मूर्च्छा और आसक्ति का यह क्रम निरंतर चलता रहेगा। उसके आधार पर ही अनावश्यक हिंसा, अनावश्यक संग्रह की वृत्ति पनपती है। संग्रह और हिंसा पर कहीं विराम नहीं लगता, कहीं उनका अंत नहीं होता। अनावश्यकताओं का परिसीमन होता है—सचाइयों को जान लेने पर। व्यक्ति सोचता है—मुझे कर्म का क्षय करना है, क्लेश का क्षय करना है, किंतु वह कब होगा? पहले दिन क्षय नहीं होगा। पहली बार में क्षय नहीं होगा। पहली प्रक्रिया है—कषाय को मंद करना, कमजोर बना देना। यह स्थिति समझ में आती है तो ध्यान का मर्म समझ में आता है।

ध्यान और तपस्या

कर्म को प्रतनु करने का शक्तिशाली माध्यम है ध्यान। तपस्या के अनेक प्रकार हैं, किंतु सबसे शक्तिशाली माध्यम है ध्यान। मानक या मानदंड की भाषा में कहा जाता है कि ढाई मिनट का ध्यान और बेले की तपस्या यानी दो दिन का उपवास बराबर है। जो निर्जरा दो दिन के उपवास में होती है, वह निर्जरा ढाई मिनट के ध्यान में हो जाती है। इतना शक्तिशाली साधन है ध्यान। इससे भी आगे जब ध्यान की विशुद्धि श्रेणी बढ़ती है—शुक्लध्यान की स्थिति आती है तो महान निर्जरा घटित होती है। प्रशमरति प्रकरण में लिखा गया है—'एक मुनि शुक्लध्यान की उत्कृष्ट साधना में है। उस स्थिति में उसमें इतनी क्षमता है कि वह दुनिया के अनंत-अनंत जीवों के कर्म अकेला क्षीण कर सकता है।' ध्यान का इतना महत्त्व है। इस महत्त्व को आंकना चाहिए।

शक्तिशाली प्रयत्न

मानसिक, वाचिक और कायिक—इन सब प्रयत्नों में विशुद्धि का सबसे अधिक शक्तिशाली प्रयत्न है ध्यान। हम कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठते हैं—शरीर को शिथिल कर देते हैं। प्रश्न होता है—'प्रयत्न' कहां रहा? एक ओर प्रयत्न की बात, दूसरी ओर प्रयत्न कहां? कायोत्सर्ग में शरीर के प्रयत्न को समाप्त कर दिया। वाणी का मौन हो गया, प्रयत्न कहां रहा? मन को एकाग्र कर लिया तो प्रयत्न कहां रहा? एक ओर है सबसे शक्तिशाली प्रयत्न और दूसरी ओर है अप्रयत्न यानी प्रयत्न का अभाव। दोनों में विरोधाभास लगता है, पर विरोध नहीं है। मन, वाणी और शरीर—ये हमारे स्थूल शरीर के घटक हैं। इनके साथ आत्मा का प्रयत्न इतना तीव्र नहीं होता। जब ये तीनों निष्क्रिय होते हैं तब आत्मा का प्रयत्न तीव्र होता है, अनंत शक्ति तभी प्रकट होती है। शरीर में अनंत शक्ति कभी प्रकट नहीं होती है।

वह तब प्रकट होती है, जब मन, वाणी और शरीर—इनकी प्रवृत्ति का निरोध किया जाए। उस समय भीतर का भयंकर विस्फोट होता है और वह होता है आत्मा के प्रयत्न से। शरीर, मन और वाणी का प्रयत्न तीव्र होता है तब आत्मा का प्रयत्न शिथिल हो जाता है। जब इनका प्रयत्न मंद हो जाता है, तब आत्मा का प्रयत्न जागृत हो जाता है।

प्रवृत्ति : निवृत्ति

मनोविज्ञान की भाषा है—जब 'कांशियस माइंड' सक्रिय रहता है तब 'अनकांशियस माइंड' सोया रहता है और जब 'कांशियस माइंड' निष्क्रिय बन जाता है, तब 'अनकांशियस माइंड' सक्रिय बन जाता है। उस अवस्था में 'अनकांशियस' मन में भरी हुई शक्तियां एक साथ जाग जाती हैं। ठीक यही स्थिति शरीर और आत्मा के प्रयत्न की है। शरीर, मन और वाणी का प्रयत्न है तब तक आत्मा का प्रयत्न प्रबल नहीं होता। जब ये तीनों शांत होते हैं, तब आत्मा का प्रयत्न प्रकट होता है। बहुत लोग कहते हैं—निवृत्तिवाद का अर्थ है निकम्मा हो जाओ, निठल्ला हो जाओ। वस्तुतः उन्होंने निवृत्ति का रहस्य ही नहीं समझा। जब बाहर की प्रवृत्तियां बंद होती हैं, तब भीतर की प्रवृत्ति इतनी प्रबलतम होती है कि उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यह निवृत्ति सापेक्ष प्रवृत्ति है। बाहर की प्रवृत्ति, भीतर की निवृत्ति। बाहर की निवृत्ति, अंतरात्मा की प्रवृत्ति। हमारी आत्मा की प्रवृत्ति ध्यान में होती है। ध्यान निठल्ला बैठना नहीं है। आत्मा की प्रवृत्ति करना है।

यही परमार्थ है

जब यह बात समझ में आती है कि ध्यान निर्जरा का इतना शक्तिशाली साधन है और वह निर्जरा अगले जीवन में काम नहीं आएगी, वर्तमान जीवन में बदलाव लाएगी, तब ध्यान का महत्त्व आंका जाता है। आचार्य ने बहुत मार्मिक दर्शन दिया—'ऐसा प्रयत्न करो, जिससे कर्म और क्लेश का क्षय हो, यही परमार्थ है।

जन्मनि कर्मक्लेशैः अनुबद्धेस्मिन् तथा प्रयतितव्यं।
कर्मक्लेशाभावो यथा भवत्येष परमार्थः।।

क्लेश और कर्म का क्षय करने का एक शक्तिशाली साधन है ध्यान। हम इस सचाई को समझकर ध्यान करें कि मैं क्यों कर रहा हूं, क्या कर रहा हूं। बाहर से निवृत्ति और भीतर से प्रवृत्ति—यही ध्यान है। कबीर ने कहा—'बाहर से तो कछु य न दीखै, भीतर जल रही जोत।' आचार्य भिक्षु ने कहा—'तपसी रो शरीर लूखो हुवै।' तपस्वी और ध्यानी का शरीर बाहर से रूखा-सूखा रहता है, पर भीतर में एक तेज झलकता है। हम भीतर प्रवृत्ति करना और भीतर के तेज को देखना सीखें, हमारे कर्म और क्लेश मंद होते चले जाएंगे और एक दिन आएगा—प्रयत्न का विवेक अप्रयत्न का स्रोत बन जाएगा। ❖

कोई इतना भोला नहीं है कि वह यह सोचे कि सर्वव्यापी शिक्षा से हमारी सारी समस्याएं हल हो जाएंगी और एक नए संसार की रचना हो जाएगी। उसके बाद भी पुरुष और महिलाएं अपनी अपूर्णताओं से संघर्ष करते रहेंगे और जीवन में अन्याय, दुख, स्वार्थ और झगड़े भी जारी रहेंगे। निरक्षरता हट जाने से गरीबी समाप्त नहीं हो जाएगी और देश-प्रेम तथा परोपकार की आवश्यकता कम नहीं हो जाएगी, परंतु सर्वव्यापी शिक्षा के फैलने से हमारे देशवासियों को बेहतर अवसर मिलेगा। सर्वव्यापी शिक्षा से सभी प्रयत्नों के सफल होने की—चाहे वे सरकारी हों या गैर सरकारी—आशा बढ़ेगी। उससे जनसाधारण की दशा के सुधरने की—उनकी सामाजिक प्रगति, नैतिक सुधार और आर्थिक कल्याण की—संभावना बढ़ेगी। मान्यवर, मेरा विचार है कि सर्वव्यापी शिक्षा से जनता बेईमान सूदखोरों से या तुच्छ अफसरों द्वारा सत्ता के दुरुपयोग से अपनी बेहतर रक्षा कर सकेगी।

—गोपालकृष्ण गोखले

8 सितंबर 2002, विश्व साक्षरता दिवस को याद करते हुए

युवाचार्य मनोनयन पर विशेष

प्रश्नाकुल सत्यान्वेषी

डॉ. जिनेन्द्र जैन

आगमसम्मत अहिंसा-धर्म ही परम धर्म है। लोक के भूतों के लिए यही अहिंसा शरणभूत और सुखदायिनी है। लौकिक जीवन के धरातल पर अहिंसा से ही सज्जन और दुर्जन की भेदरेखा खींची जा सकती है। अहिंसामय धर्म ही ऋजुता, मृदुता, संतोषवृत्ति, मैत्री आदि मूल्यों का आधार बनता है—यह कथन है युवाचार्यश्री महाश्रमण का जो स्वयं ऋजुता, मृदुता और मैत्री के सबल संवाहक तो हैं ही, भारतीय मनीषा के उज्ज्वलतम नक्षत्र तेरापंथ धर्म-संघ के दशम अधिष्ठाता दार्शनिक-चिंतक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के उत्तराधिकारी भी हैं।

यह तो कहा ही गया है कि जिनके द्वारा प्रज्ञा जागृत होती है वैसे सद्गुरु लोक में दुर्लभ हैं और प्रज्ञा को जागृत करने वाले गुरु को पा लेने वाला शिष्य तो धन्य हो जाता है। लेकिन जहां गुरु अथवा शिष्य दोनों ही प्रज्ञा को जागृत करने वाले हों वहां शिष्य समुदाय धन्य हो जाता है। आचार्य तुलसी जब महाप्रज्ञ को प्राप्त करते हैं और आचार्य महाप्रज्ञ जब मुनि मुदितकुमार को युवाचार्य पद सौंपते हैं, तब अनवरत गतिमान तेरापंथ समुदाय धन्य-धन्य हो उठता है।

यह एक विलक्षण संयोग ही है कि अपने उत्तराधिकारी का चयन आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने उस 'सरलता' को देखकर किया जो स्वयं महाप्रज्ञजी में भी कूट-कूट कर भरी है। कहा भी है—सरलगति, सरलमति, सरल आचरण वाला व्यक्ति सबको सरल भाव से देखता है। युवाचार्यश्री महाश्रमण ऐसे ही सरल हृदयी हैं; जो 'मोहन' से मुनि मुदितकुमार, फिर महाश्रमण मुदितकुमार और फिर युवाचार्य महाश्रमण की यात्रा को तय करके अनवरत आध्यात्मिक विकास की प्राप्ति कर रहे हैं। प्रज्ञा को जागृत करने की अटूट शृंखला अविच्छिन्न प्रतीत हो रही है।

वे सत्य के सच्चे अन्वेषक और उपासक हैं, क्योंकि जिज्ञासावृत्ति से वे प्रश्न-प्रतिप्रश्नों की लंबी शृंखला उपस्थित कर देते हैं और यह प्रश्नाकुलता तब तक अनवरत चलती रहती है, जब तक कि आगम का मर्म स्पष्ट नहीं हो जाता। गुरु के समक्ष प्रस्तुत किए गए प्रश्न कभी शिष्य की श्रद्धा में संशय को भी अवसर दे देते हैं, लेकिन यह क्रम तभी तक चलता है जब तक कि आगम का मर्म स्पष्ट नहीं होता। सत्य को तर्क द्वारा प्राप्त किया जाता है एवं जाना जाता है, किंतु सत्य पर स्थिर रहने की सामर्थ्य श्रद्धा द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इसलिए सत्य के अन्वेषक और उपासक के लिए तर्क और श्रद्धा को स्वीकारना ही पड़ता है। युवाचार्यश्री के साधनामय जीवन में इनका संयोग बना हुआ है।

राजस्थान के बीकानेर संभाग के एक कस्बे सरदारशहर में 13 मई, 1962 को जन्मे मोहन ने भाद्रपद शुक्ला द्वादशी संवत 2054 (14 सितंबर, 1997) को गंगाशहर में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को निश्चिंत कर देने वाली यात्रा का एक पड़ाव पूरा कर लिया। इस यात्रा में उनका जो व्यक्तित्व उभरकर सामने आया वह विमर्शनीय भी है और अनुकरणीय भी।

बीसवीं शती की जैन श्रमण परंपरा में तेरापंथ धर्म-संघ का साहित्य अग्रणी जैन साहित्य है। सत्य की साधना में अनवरत लगे हुए इस संघ के महापुरुषों ने संस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी और हिंदी भाषा में साहित्य का सृजन किया है। समाज की अनेकानेक प्रचलित परंपराओं के निर्वहन और उनको क्रमिक गतिशील बनाने के लिए इस संघ का साहित्य विशेष महत्त्व का है। तेरापंथ धर्म-संघ के

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के योग्य शिष्य युवाचार्य महाश्रमणजी ने जिन कृतियों का सृजन किया, वे संख्या में अत्यल्प होने के बावजूद अर्थगांभीर्य से युक्त हैं।

युवाचार्य महाश्रमणजी की कृतियों में से एक-दो—'शेमुषी' एवं 'शिक्षा सुधा' का अवलोकन करेंगे तो पाएंगे कि उन्होंने लोककल्याणकारी भावनाओं और आदर्शों को अपने विचारों में स्थान दिया है। उन्होंने व्यक्ति को केंद्र में रखकर जिन शिक्षाओं का दिग्दर्शन अपनी कृतियों में कराया है, वे जैन जीवन-शैली और श्रमण-परंपरा के ज्ञान को रेखांकित करने वाली हैं। नीतिपरक प्रसंगों को पृथक्-पृथक् दृष्टांतों के माध्यम से सरल व ग्राह्य रूप में प्रस्तुत करना उनकी क्षमता का परिचायक है। ये दृष्टांत जहां व्यक्ति को कर्तव्य और साधनापरक जीवन की प्रेरणा देते हैं वहीं जनसामान्य के हृदय को प्रेरित भी करते हैं।

युवाचार्य महाश्रमणजी ने आध्यात्मिक एवं श्रामणिक साधना, कषायमुक्ति की ओर प्रयाण, पुरुषार्थ चतुष्टय, संयम और संतोषवृत्ति के प्रयोग, कथनी और करनी की समरूपता सहित जीवन के विविध आदर्शों और मूल्यों को अपनी कृतियों में स्थान दिया है। श्रमणत्व की साधना में ये तत्त्व उनके आचरण में तो स्वतः ही चरितार्थ हैं।

निर्वाणप्राप्ति के लिए देव, गुरु, शास्त्र और समता रूप धर्म-आराधना को उन्होंने अपना विषय बनाया। अनुप्रेक्षा, भावनाओं तथा वाणी संयम का विवेचन आपकी कृतियों में सर्वत्र मिलता है। शिष्टाचार, प्रेरणाशक्ति, प्रशस्ति, संबोध और सज्जन-दुर्जन की भेदरेखा को पाटने वाली अनेक लोककल्याणकारी प्रवृत्तियों को स्थान देते हुए आचार व साधना के विविध पक्षों को आपने महत्त्व देकर जनसामान्य को भी इनके लिए अनुप्रेरित किया है।

युवाचार्यश्री कहते हैं—वर्तमान विश्व के सामने आज जो समस्याएं हैं, वे महावीर-काल में भी थीं। महावीर ने इनके समाधान के लिए हमें कुछ सूत्र दिए। विषमता, गरीबी, अन्याय और असमान विकास के अवसर एवं वैचारिक मतभेद जैसी समस्याओं का समाधान युवाचार्यश्री की दृष्टि में अहिंसा से ही प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने चण्डकौशिक सर्प की दुष्प्रवृत्ति को एक समस्या के रूप में उठाया है, जिसका समाधान महावीर के अहिंसामय धर्म में निहित मानते हुए कहा है कि—अहिंसक व्यक्ति ही ममतावान व समतावान रह सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति अपने कर्तव्यबोध का पालन सदैव करता रहे।

जैन दर्शन जहां आदर्शवादी है, वहीं जीवन के धरातल पर चलकर पुरुषार्थ के साधन अपनाने की बात भी कहता है। 'अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य'—आगम की इस वाणी को पढ़कर व्यक्ति ने पुरुषार्थ को बलवान माना। युवाचार्यश्री ने भी इसका अक्षरशः अनुपालन कर कर्म-सिद्धांत को स्वीकार किया और कहा—'अणुव्रत, महाव्रत, साधना, तप आदि साधनों द्वारा जीव अपने साध्य को प्राप्त कर सकता है, इसमें पुरुषार्थ को एक बैसाखी का रूप देना आवश्यक है। अच्छे-बुरे कर्मों का निर्माता वह स्वयं ही है एवं फल भी उसे ही भोगने हैं। जैन दर्शन के कर्मवाद में पुरुषार्थ को केंद्रीय महत्त्व मिला है। इसीलिए युवाचार्यश्री मानते हैं कि कषायमुक्ति ही—जो पुरुषार्थ से संभव है—मोक्ष प्रदान कर सकती है। अतः हमें स्वयं के दायित्व का बोध होना आवश्यक है।

धर्म-संघ की समस्त गतिविधियों के क्रियान्वयन में 'केंद्र की तरह' जुड़े होने के बावजूद युवाचार्य महाश्रमणजी में 'स्वयं के दायित्व का बोध' बखूबी देखा जा सकता है। साधना, लेखन, प्रतिबोध, आध्यात्मिक विकास के लिए आराधन एवं तपश्चरण आदि अनेक गतिविधियों को एक साथ संचालित करना उनकी अपनी प्रभूत प्रतिभा का द्योतक है।

सत्यान्वेषी की पहली शर्त है—उद्दाम अनुसंधित्सु की भावना तथा यथाख्यात चारित्राराधन। ये दोनों गुण युवाचार्यश्री में विद्यमान हैं। जैनागमों को शब्दशः आत्मसात करने वाले व्यक्तित्व में तर्क और श्रद्धा—दोनों का समन्वय पाया जाता है। युवाचार्यश्री जहां आस्थावान एवं समर्पित व्यक्तित्व से युक्त हैं, वहीं उनका दूसरा रूप, जो एक कदम आगे कहा जा सकता है, प्रमेयों की गुत्थियों को सुलझाने वाला भी प्रदर्शित होता है। गीता में कहा गया है—

'श्रद्धावानं लभते ज्ञानम्' अतः कहा जा सकता है कि श्रद्धा-समर्थित तर्क द्वारा जब ज्ञान को प्राप्त किया जाता है तभी सत्य का अन्वेषण और उपासना प्रारंभ होती है। इसी गुण के ग्राही होने के कारण महावीर-वाणी (आगमों) में अटूट श्रद्धा होने के बाद भी युवाचार्यश्री उसे तर्क की कसौटी पर कसे बिना मानने को तैयार नहीं होते हैं। वे सत्य के सच्चे अन्वेषक और उपासक हैं, क्योंकि जिज्ञासावृत्ति से वे प्रश्न-प्रतिप्रश्नों की लंबी शृंखला उपस्थित कर देते हैं और यह प्रश्नाकुलता तब तक अनवरत चलती रहती है, जब तक कि आगम का मर्म स्पष्ट नहीं हो जाता। गुरु के समक्ष प्रस्तुत किए गए प्रश्न कभी शिष्य की श्रद्धा में संशय को भी अवसर दे देते हैं, लेकिन यह क्रम तभी तक चलता है

जब तक कि आगम का मर्म स्पष्ट नहीं होता। सत्य को तर्क द्वारा प्राप्त किया जाता है एवं जाना जाता है, किंतु सत्य पर स्थिर रहने की सामर्थ्य श्रद्धा द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इसलिए सत्य के अन्वेषक और उपासक के लिए तर्क और श्रद्धा को स्वीकारना ही पड़ता है। युवाचार्यश्री के साधनामय जीवन में इनका संयोग बना हुआ है।

तत्त्वचिंतन की ज्ञानात्मक शैली के रूप में जैन परंपरा में अनेकांत, नय व स्याद्वाद का प्रतिपादन किया गया है। ये सिद्धांत वस्तुतत्त्व के यथार्थ बोध के लिए महावीर ने दिए और बताया कि वस्तु का स्वभावगत निश्चयात्मक रूप ग्राह्य है, उपादेय है। जबकि अज्ञान अथवा माया के आवरण से आवृत्त इस जगत को प्रायः व्यावहारिक रूप में ही प्राप्त किया जाता है, जो अग्राह्य एवं हेय है। व्यावहारिक शैली द्वारा जगत के वास्तविक स्वरूप को एकांगी दृष्टि से ही प्राप्त किया जाता है, जिससे यथार्थबुद्धि का ह्रास होकर हम आग्रही बनते जाते हैं। जबकि युवाचार्यश्री के लेखन एवं उद्‌बोधन में सदैव निराग्रहीवृत्ति ही प्रयुक्त होती है। वे कभी भी ऐसी वाणी का प्रयोग नहीं करते जिससे पुरुषार्थ खंडित होकर नियतिवाद के द्वारा कुंठित होता हो। उन्होंने अनेकांतिक विचारधारा को जीवन में संपोषित कर दूसरों को भी इस ओर प्रेरित किया है। वे लिखते हैं 'मुक्ति न दिगंबरत्व में है, न श्वेतांबरत्व में, न तर्कवाद में है और न तत्त्ववाद में। न ही अपने पक्ष की सेवा का आश्रय लेने से मुक्ति है। कषायमुक्ति ही वास्तव में मुक्ति है' (शेमुषी-पृ.9)।

अनगार धर्म को पालने से युवाचार्यश्री संयमपूर्ण जीवन शैली के स्वतः अनुगामी हो जाते हैं। वे प्रतिक्षण योग-साधना में रत संयमी एवं संतोषी वृत्ति को धारण करते हुए आत्म-विकास में संलग्न प्रतीत होते हैं।

यदि व्यक्तिशः जीवन में समता की साधना की जाए तो व्यापक स्तर पर उसका प्रभाव पड़ सकता है। आचारांग सूत्र में किसी को दास बनाना, पराधीन करना, शारीरिक और मानसिक संताप देना, शोषण करना आदि कार्यों पर संयम रखने के लिए निर्देश हैं। युवाचार्यश्री भी समतामय जीवन के लिए अनुप्रेरणा देते हुए लिखते हैं—'समता में प्रतिष्ठित होने पर सब ओर से सुख आता है। इसलिए सुख-प्राप्ति के लिए मनुष्यों को सदा समता का सेवन करना चाहिए।' समता का ही दूसरा रूप संतोष है। वे कहते हैं—'सुखी जीवन के लिए संयम और संतोषवृत्ति पर आधारित समता को प्राप्त करना चाहिए।' स्वयं युवाचार्यश्री ने अपनी वृत्तियों को योग साधना के द्वारा इतना संयमित कर लिया कि अशांत क्षणों में भी वे क्षुब्ध अथवा अधीर नजर नहीं आते।

व्यक्ति के जीवन में अनेक ऐसे पड़ाव आते हैं, जहां उसे बहुआयामी दायित्वों का निर्वहन करना होता है। युवाचार्य महाश्रमणजी का व्यक्तित्व भी बहुआयामों से युक्त है। अपना साधनायुक्त जीवन जीते हुए अनेकानेक गतिविधियों का संपादन भी वे करते हैं। धर्म-संघ की समस्त गतिविधियों का दायित्व सम्हालने की क्षमता का आकलन करके ही उनको 'युवाचार्य' के रूप में मनोनीत किया गया है और आज चतुर्विध संघ के स्वर को वे मूर्तरूप दे रहे हैं। तेरापंथ धर्म-संघ के लिए तो युवाचार्यश्री का सान्निध्य प्रातःकाल के सूर्योदय जैसा है जिसमें दिव्य प्रकाश एवं शीतल आभा का सांगोपांग सम्मिश्रण है। ऐसे व्यक्तित्व के धनी युवाचार्यश्री से जैन समाज ही नहीं, संपूर्ण मानवता को बड़ी अपेक्षाएं हैं। ❖

आज हम पाते हैं कि अनासक्ति-अपरिग्रह को सर्वोच्च मूल्य की तरह खोजने-बरतने वाले भारत के समकालीन नागरिक सबसे ज्यादा भयंकर आसक्ति के शिकार हैं। पुत्र-मोह, सम्पत्ति-मोह, कीर्ति-मोह अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गए दीखते हैं। शायद उच्चतम आदर्श से निम्नतम यथार्थ तक पैंडुलम पहुंचेगा तभी संतुलन पैदा होगा, ऐसा लगने लगता है। इसी तरह आत्मा, आत्मान्वेषण जिस जाति के लिए मनुष्य का सबसे पहला और आखिरी सरोकार रहा हो, उसके प्रतिष्ठित सदस्यों को हम भयानक आत्मरति में लिथड़े देखते हैं।

—रमेशचंद्र शाह

क्या हों हमारे आदर्श

आचार्यश्री तुलसी

जिस पर कोई व्यक्ति चल ही नहीं सके, आदर्श वह नहीं होता और आदर्श वह भी नहीं होता जिसके अनुसार हर कोई चल सके। आदर्श वह होता है जो व्यक्ति को साधारण स्तर से ऊपर उठाकर उस शिखर तक पहुंचा दे, जहां संकल्प की दृढ़ता और पुरुषार्थ की प्रबलता परिलक्षित होती है। आदर्श बनने की कोई एक ही निश्चित प्रक्रिया नहीं होती, पर प्रक्रिया होती अवश्य है। उस प्रक्रिया का पथ फूलों से भरा हुआ ही नहीं है, उसमें कांटों की चुभन भी रहती है। उस चुभन को बरदाश्त कर लेने वाला व्यक्ति ही फूलों की सुगंध बटोरता हुआ आगे बढ़ता है और अपने लक्ष्य तक पहुंच जाता है। इसके लिए घनीभूत निष्ठा और कभी न टूटने वाले संकल्प की अपेक्षा रहती है। वह व्यक्ति कभी भी आदर्श नहीं बन सकता—जिसकी आस्था लचीली होती है और संकल्प लिजलिजा होता है।

व्यक्ति को किस दिशा में आदर्श बनना चाहिए—यह एक प्रश्न है। जो व्यक्ति जिस कार्यक्षेत्र में उतरता है, उसमें वह आदर्श बनकर ही उतरे—समाज उससे यही अपेक्षा रखता है। इस क्रम में एक ही व्यक्ति आदर्श पिता, आदर्श पुत्र, आदर्श कार्यकर्ता, आदर्श व्यवसायी, आदर्श धार्मिक इत्यादि एक साथ बन सकता है। जिस समय उसके जिस आदर्श रूप की उपयोगिता होती है—वे सक्रिय हो जाएं और शेष रूप उसके वर्चस्व को निखारने में निमित्त बनते रहें, तो कहीं कोई उलझन पैदा नहीं हो सकती। उलझन वहां खड़ी होती है, जहां दो आदर्शों में परस्पर किसी प्रकार का टकराव हो। टकराव वहां होता है—जहां थोथे आदर्श के आधार पर अपनी अस्मिता स्थापित करने का लक्ष्य रहता है, अपूर्णता का भ्रम हो जाता है अथवा नाम और प्रतिष्ठा की भूख जाग जाती है। ऐसा कुछ भी जहां घटित होता है, वहां आदर्श तो क्या, उस स्तर की सामान्य भूमिका का निर्वाह भी नहीं हो सकता।

आस्था और आदर्श का संकट भारतीय समाज में जिस गहन रूप में इस समय विद्यमान है, उतना आजादी से पूर्व नहीं था। हमारे आदर्श क्या हों और कौन हो सकता है हमारे लिए कोई आदर्श पुरुष—इस प्रश्न से भारत का युवजन सदा जूझता रहा है। नैतिक-आध्यात्मिक क्रांति के सूत्रधार आचार्यश्री तुलसी के प्रस्तुत आलेख में इन्हीं सवालों पर कुछ विचार जैन भारती के पाठकों के लिए—

आदर्श की अनेक भूमिकाएं ऐसी हैं जिनका अनुबंध बहुत छोटी सीमाओं में होता है। वैयक्तिक या पारिवारिक परिवेश में जो व्यक्ति आदर्श रूप में उपस्थित होते हैं, उनका समाज पर कोई प्रभाव होता ही नहीं—यह बात तो नहीं है—फिर भी एक कार्यकर्ता का दायरा जितना व्यापक होता है—एक पिता या पुत्र का नहीं हो सकता। इस दृष्टि से यह बहुत आवश्यक प्रतीत होता है कि 'आदर्श कार्यकर्ता' का एक मापदंड हमारे सामने रहे और उसी आदर्श पर कार्यकर्ताओं का निर्माण किया जाए।

अधिकार गौण, कर्तव्य प्रमुख

मनुष्य में दो प्रकार की वृत्तियां काम करती हैं—अधिकार की भावना और कर्तव्य-भावना। अधिकार के साथ स्वार्थ-लिप्सा, सुविधावाद, नाम और प्रतिष्ठा की बातें जुड़ी रहती हैं। जबकि कर्तव्य-बुद्धि या भावना से काम करने वाला इन सब बातों से बहुत दूर रहता है। जिस व्यक्ति में कर्तव्य-भावना गौण है और अधिकार की भावना प्रधान है, वह सही अर्थ में

कार्यकर्ता बन ही नहीं सकता। स्वार्थ और अधिकार की बात जहां भी आती है, कर्तव्य-भावना वहां गौण हो जाती है। स्वार्थी मनोवृत्ति का परिमार्जन करने के लिए 'स्व' और 'पर' की भावना को स्वत्व के विस्तार में विलीन करना जरूरी है। जब तक कार्यकर्ता के मन में अपने और पराए की भेदरेखा रहती है, कर्तव्य-भावना पर स्वार्थ वहां हावी हो जाता है। 'स्वत्व' का विस्तार होने के बाद हर व्यक्ति का 'सुख-दुख' उसका 'अपना सुख-दुख' बन जाता है। समाज के साथ उसकी इतनी सहानुभूति हो जाती है कि केवल अपने बारे में वह कुछ सोच ही नहीं सकता। इस वृत्ति का विकास होने से ही व्यक्ति निष्पक्ष होकर काम कर सकता है।

आदर्श के पांच शील

शील का अर्थ है—आचार या स्वभाव। कोई व्यक्ति जिस किसी क्षेत्र में आदर्श बनना चाहता है तो उसे अपने जीवन में विशिष्ट प्रकार के आचार का पालन करना ही होता है। आचार की उच्चता या स्वभाव की श्रेष्ठता के लिए कुछ कसौटियां होती हैं। आदर्श कार्यकर्ता के लिए मेरे अभिमत से न्यूनतम कसौटी उसके पांच शील हैं—1. श्रद्धाशील 2. सहनशील 3. विचारशील 4. कर्मशील 5. चरित्रशील।

सबसे पहला शील है आस्था। आस्था का अर्थ है—हजार कठिनाइयों के बावजूद अपने लक्ष्य, मार्गदर्शक और अपने लक्ष्य-प्राप्ति के साधनों को लेकर मन में दूसरा विकल्प नहीं उठना। विकल्प वहीं उठता है, जहां श्रद्धा का पक्ष दुर्बल होता है। जो कार्यकर्ता एक क्षण के लिए भी मानसिक रूप से विचलित नहीं होता है—वह कठिन-से-कठिन काम में भी सफल हो जाता है।

सहिष्णुता भी कार्यकर्ता के जीवन का अपरिहार्य अंग होती है। जो सहने की कला नहीं जानता है, वह सार्वजनिक क्षेत्र में काम कर ही नहीं सकता। झूठी और सच्ची—सब प्रकार की आलोचनाओं को झेलने की क्षमता जिसमें होती है, वह अपने स्वीकृत दायित्व का कुशलता से निर्वाह कर लेता है।

आज किसी भी समाज या देश में कार्य की कमी नहीं है, पर कार्यकर्ता सब जगह कम हैं। इस कमी का सबसे बड़ा कारण यह है कि कार्यकर्ताओं के निर्माण और प्रशिक्षण के लिए कोई विशेष उपक्रम नहीं चल रहा है। एक-एक क्षेत्र में सैकड़ों युवक ऐसे तैयार हो सकते हैं, जो अपने समाज के रथ को आगे खींच सकते हैं। किंतु उनका समुचित संकलन नहीं है, उनके लिए प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था नहीं है और उनके निर्माण का लक्ष्य नहीं है। जब तक इस प्रकार का कोई लक्ष्य नहीं बनता है—कोई भी समाज या राष्ट्र आत्मनिर्भर नहीं बन सकता। इसलिए इस संबंध में विशेष रूप से ध्यान केंद्रित करने की अपेक्षा है। अन्यथा योग्य और तेजस्वी प्रतिभाएं छिपी रह जाती हैं, जो समाज का पथ-प्रदर्शन कर सकती हैं।

एक कार्यकर्ता की कार्यपद्धति में विचारशीलता नए-नए उन्मेष पैदा करती है। केवल दूसरों के परामर्श या चिंतन को आधार बनाकर काम करने वाला आदर्श कार्यकर्ता नहीं कहला सकता।

एक राजकुमार संन्यासी बना। वह वृक्ष के नीचे ईंट का तकिया लगाकर सो रहा था। कुछ पनिहारिनें उधर से गुजरीं। उनमें से एक ने कहा—'साधु बन गया तो क्या हुआ, राजसी ठाठ तो अभी छूटा नहीं। देखो, तकिये बिना इसको नींद भी नहीं आती। इसीलिए तो ईंट का तकिया लगाकर सो रहा है।' संन्यासी ने यह बात सुनी और सोचा—'ठीक ही कह रही है यह बहन। जब समूचे राज्य का वैभव छोड़ दिया तो तकिया लगाकर सोने का अर्थ ही क्या है? इस चिंतन के साथ ही वह उठा और ईंट दूर फेंककर सो गया।'

पनिहारिनें पानी भरकर उसी रास्ते से लौटीं। संन्यासी को उस रूप में लेटा देखकर एक महिला बोल उठी—'साधु बन गया तो क्या हुआ, अभिमान तो छूटा नहीं। हमने इतना-सा कहा और ईंट निकालकर फेंक दी।'

संन्यासी पसोपेश में पड़ गया। वह अविलंब उठकर उन पनिहारिनों के पास आया और कहने लगा—'बहनो, पहले तुमने वैसे कहा और अब ऐसे कह रही हो। मुझे करना क्या चाहिए?' यह सुनकर एक बहन तपाक से बोली—'करना चाहिए अपनी सूझ-बूझ से। दूसरों के कहने से चलेंगे तो कैसे होगी आपकी साधना?'

साधना हो, सेवा हो या व्यवस्था—अपनी सूझ-बूझ और स्वतंत्र चिंतन का विकास हुए बिना कोई भी व्यक्ति सुव्यवस्थित और सुनियोजित रूप से काम करने में सफल नहीं हो सकता।

कर्मशीलता आदर्श कार्यकर्ता के लिए चौथा शील है। केवल बातें बनाकर कोई भी व्यक्ति कृतकाम नहीं हो सकता। जिसके जीवन में पुरुषार्थ की ज्योति प्रज्वलित रहती है, वही व्यक्ति निराशा के अंधकार को प्रकाश में

बदल सकता है। कर्मशील व्यक्ति के लिए कोई भी काम असंभव नहीं होता और कर्महीन-पुरुषार्थहीन व्यक्ति किसी भी काम में सफल नहीं होता।

आदर्श का पांचवां शील है चरित्र। कार्यकर्ता चरित्रनिष्ठ है तो सब-कुछ है, अन्यथा कुछ भी नहीं। चरित्रहीन व्यक्ति का कर्म पवित्र नहीं रह सकता, विचार स्पष्ट नहीं हो सकता, श्रद्धा अप्रकंप नहीं रह सकती और सहिष्णुता वहां टिक नहीं सकती। चरित्रहीन व्यक्ति अपना विश्वास खो देता है और अपनी छवि को धूमिल बना लेता है। इसीलिए चरित्र की मूल्यवत्ता सर्वोपरि है।

कार्यकर्ता की क्षमता

व्यक्ति में तीन प्रकार की क्षमताएं होती हैं—सहज, अर्जित और ओढ़ी हुई। सहज क्षमता किसी-किसी में होती है। जिसमें यह होती है—उसका व्यक्तित्व काफी अंशों में पूर्ण होता है। वह जो-कुछ सोचता है उसे उसी रूप में निष्पन्न कर लेता है। कार्य की निष्पत्ति के लिए न तो निरर्थक दौड़-धूप करनी पड़ती है और न ही वह किसी अवसर को खो सकता है। सहज-समर्थ व्यक्तित्व वाला कार्यकर्ता अपने काल को इतना उजागर कर देता है कि शताब्दियों-सहस्राब्दियों तक वह युग के चित्रपट पर मूर्तिमान रहता है।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो बहुत ही साधारण व्यक्तित्व लेकर इस धरती पर आते हैं, किंतु अपने पुरुषार्थ से चमक जाते हैं। व्यक्तित्व विकास के लिए उन्हें जो भी अवसर मिलता है, वे मुक्तभाव से उसका उपयोग करते हैं। इनकी क्षमता अर्जित होती है, फिर भी कालांतर में वह स्वाभाविक-सी बन जाती है। ऐसे व्यक्ति भी अपने समाज और देश को दुर्लभ सेवाएं दे सकते हैं।

तीसरी पंक्ति में वे व्यक्ति आते हैं, जिनके पास न तो सहज क्षमता होती है और न वे क्षमता का अर्जन ही कर पाते हैं। किंतु सक्षम कहलाना चाहते हैं। कोई दूसरा उन्हें मान्यता दे या नहीं, वे अपने-आप महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। इस आरोपित क्षमता से कभी कोई काम हो सकता है, संभव नहीं लगता।

ओढ़ी हुई क्षमता वाले व्यक्ति कार्यकर्ता के गरिमापूर्ण दायित्व को ओढ़कर भी उसको निभा नहीं सकते। इसलिए उन्हीं व्यक्तियों का इस क्षेत्र में आना या लाना उचित रहता है जो सहज या अर्जित क्षमता से संपन्न होते हैं।

कार्यकर्ता की समस्याएं

किसी भी श्रेणी के कार्यकर्ता के मन में अतिरिक्त आकांक्षा नहीं होनी चाहिए, पर वह अपनी अपेक्षाओं को तो पूरा करना चाहेगा ही। ऐसे कार्यकर्ताओं को साथ लेकर चलना भी कार्यकर्ता का एक विशिष्ट गुण है।

जो कार्यकर्ता आर्थिक समस्या से जूझता रहता है, निरंतर तेल-नमक-लकड़ी की चिंता में खोया रहता है, वह अपनी प्रतिभा और क्षमता को निखार नहीं सकता। ऐसे कार्यकर्ता को समाज चिंतामुक्त कर सके, उसके योगक्षेम का भार वहन कर सके—तो एक बड़ा काम हो सकता है।

किसी भी क्षेत्र में काम करने वाला व्यक्ति हो, अपने समाज में आदर और प्यार की भूख हर कार्यकर्ता को रहती है। जिस समाज में कार्यकर्ता को इज्जत नहीं मिलती, उसे वेतनभोगी कर्मचारी मानकर उसके साथ व्यवहार किया जाता है, वहां कार्यकर्ता के स्वाभिमान को ठेस लगती है। जहां कार्यकर्ता को समाज में सिर ऊंचा उठाकर जीने का अधिकार नहीं, वहां कार्यकर्ता पनप नहीं सकते।

जो व्यक्ति काम करता है, उससे कभी प्रमाद भी हो सकता है। कार्यकर्ता भी इसके अपवाद नहीं हो सकते। अक्षम्य प्रमाद की तो बात और है, सामान्यतः छोटी-मोटी गलती होने पर उन्हें अपमानित करना अथवा उखाड़कर फेंक देना किसी भी संस्था या समाज के लिए गौरवास्पद नहीं हो सकता। गलती की उपेक्षा करना भी अच्छी बात नहीं है। उसका उचित प्रतिकार हो, पर उसके साथ परिष्कार का लक्ष्य न हो तो कार्यकर्ता के लिए बहुत बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

आदर्श बनने के लिए आदर्श कौन हो?

समाज में ऐसे अनेक सक्षम व्यक्तित्व होते हैं, जो थोड़ी-सी दिशा मिलते ही अच्छे कार्यकर्ता के रूप में उभर सकते हैं। प्रश्न यह है कि वे किस आदर्श को सामने रखकर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करें? आदर्श दो प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष आदर्श वर्तमान में नहीं होते। उनके बारे में सुनने या पढ़ने से किसी के मन में वैसा बनने की ललक उत्पन्न हो जाए तो वह उन्हें अपना आदर्श बना सकता है। इस दृष्टि से महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण, महात्मा गांधी, विवेकानंद आदि कोई भी अपने आराध्य, इष्ट या आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित हो सकते हैं। कल्पना के आधार पर अपने आदर्श की प्रतिमा का चित्र बनाना या स्वयं को उस रूप में ढालने का संकल्प करना अथवा उसके किसी विशिष्ट गुण को आत्मसात करने के लिए भावना का प्रयोग करना आदि ऐसे उपक्रम हैं, जिनके द्वारा प्रयोक्ता के जीवन में उन विशिष्टताओं या गुणों का संक्रमण हो सकता है।

प्रत्यक्ष आदर्श वर्तमान में होता है, उसकी सन्निधि में बैठने से व्यक्ति को अज्ञात प्रेरणा मिलती है। उसके मन में भावना का ज्वार उठता है कि काश! मैं भी ऐसा हो पाता। कुछ भावुक प्रकृति के लोग तो ऐसे प्रसंग में इतने उतावले हो जाते हैं कि अपने घर और परिवार की सारी चिंताएं छोड़कर उसके साथ काम करने के लिए समर्पित हो जाते हैं। किंतु इन लोगों के साथ एक खतरा भी रहता है। किसी भी अपूर्ण व्यक्ति को आदर्श मानकर चलने वाले जब उसमें किसी प्रकार की त्रुटि या न्यूनता देखते हैं तो उनकी आस्था को आघात भी अतिशीघ्र लगता है।

कार्यकर्ताओं का निर्माण

किसी भी काम की निष्पत्ति में तीन बातों का होना बहुत जरूरी है—मार्गदर्शक, आयोजक और कार्यकर्ता। मार्गदर्शक सही न हो तो वह कोई भी निर्णय सही नहीं ले सकता। इसलिए यह अपेक्षा की जाती है कि मार्गदर्शक द्रष्टा हो, अनुभवी हो और कल्पनाशील हो। मार्गदर्शक अनुभवी हो, पर योजना बनाने वाले अनुभवहीन हों तो भी कोई काम नहीं हो सकता। किसी भी विशिष्ट कार्य को करने से पूर्व उसकी व्यवस्थित योजना या रूपरेखा नहीं बनती है तो काम करने वालों के सामने पग-पग पर अवरोध उपस्थित हो जाते हैं। मार्गदर्शक और आयोजक सही बिंदु पर खड़े हों तो भी कार्य की सफलता के लिए समर्पित कार्यकर्ता का योगदान सदा अपेक्षित रहता है। आज किसी भी समाज या देश में कार्य की कमी नहीं है, पर कार्यकर्ता सब जगह कम हैं। इस कमी का सबसे बड़ा कारण यह है कि कार्यकर्ताओं के निर्माण और प्रशिक्षण के लिए कोई विशेष उपक्रम नहीं चल रहा है। एक-एक क्षेत्र में सैकड़ों युवक ऐसे तैयार हो सकते हैं, जो अपने समाज के रथ को आगे खींच सकते हैं। किंतु उनका समुचित संकलन नहीं है, उनके लिए प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था नहीं है और उनके निर्माण का लक्ष्य नहीं है। जब तक इस प्रकार का कोई लक्ष्य नहीं बनता है—कोई भी समाज या राष्ट्र आत्मनिर्भर नहीं बन सकता। इसलिए इस संबंध में विशेष रूप से ध्यान केंद्रित करने की अपेक्षा है। अन्यथा योग्य और तेजस्वी प्रतिभाएं छिपी रह जाती हैं, जो समाज का पथ-प्रदर्शन कर सकती हैं।

ऐसे कार्यकर्ताओं के सामने आने से ही समाज का गौरव बढ़ता है और एक विशिष्ट अपेक्षा की पूर्ति होती है। ऐसे व्यक्ति तैयार होकर समर्पित भाव से काम करें तो समाज में नई दिशा का उद्घाटन हो सकता है। ❖

बच्चों के लिए राष्ट्रीयता का वही अर्थ जीवंत और कुंठामुक्त हो सकता है, जो उनके दैनिक जीवन से जुड़ा हो। स्कूली प्रार्थनाओं को देखकर ऐसा नहीं लगता कि स्वाधीनता मिलने से लेकर अब तक ऐसा कोई संबंध हम अपने राष्ट्रीय इरादों और जीवन के बीच बिठा पाए हैं। हम भले ही यह घोषित कर चुके हों कि हमारा राष्ट्रीय लक्ष्य आत्मनिर्भरता तथा सभी के लिए आत्मसम्मानपूर्ण सामाजिक जीवन है, व्यवहार में हम शक्ति के विनयी भक्त होना आत्मसम्मानपूर्ण बर्ताव से ज्यादा उपयोगी पाते हैं। हमारी नौकरशाही और राजनीति दोनों सामान्य जनता की याचना और विनय की आदी हो चुकी हैं। यह असंभव है कि बच्चे इन गुणों का नित्य व्यवहार न देखते हों। स्कूली प्रार्थनाएं भी उन्हीं गुणों की शिक्षा देती हैं। राष्ट्र की उन्नति की मांग हम चाहे प्रभु से करें या झंडे से या भारतमाता से, प्रत्येक दशा में हमारी मुद्रा असहायता की होती है।

—कृष्णकुमार

आचार्य श्री कैलास सागर सूरि ज्ञान मन्दिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र,
कोबा, जि. गांधीनगर, पीन-३८२००९

जयाचार्य निर्वाणोत्सव पर विशेष

घटनाओं की अप्रतिम आभा

मुनि बुद्धमल्ल

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्यश्री जीतमलजी (संवत् 1908-संवत्-1938) वस्तुतः सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य थे। उनका शासनकाल तेरापंथ की प्रथम शताब्दी का समापन काल और दूसरी शताब्दी का प्रारंभिक काल रहा। तेरापंथ के नव निर्माण में आचार्य जीतमलजी (जयाचार्यजी) का योगदान स्वामी भीखणजी के समरूप माना जाता है।

जयाचार्यजी का जीवन बड़ा ही घटनाप्रधान रहा है। उनके जीवन-काल की अनेक घटनाएं चर्चा में आती रहती हैं। जयाचार्यजी के जीवन से जुड़ी कुछेक घटनाएं तो ऐसी हैं जो तराशे हुए छोटे-बड़े हीरों की तरह अप्रतिम आभा लिए हुए हैं। आज भी ये घटनाएं जन-जन को प्रभावित करती हैं। कुछ घटनाएं, प्रसंगवश—

गुरु-भक्ति

संवत 1883 के शेषकाल की घटना है। ऋषिराय (आचार्य रायचन्द्रजी) उस समय मालव-यात्रा कर रहे थे। मुनि जीत (कालांतर में जयाचार्य) उनके साथ थे। उस यात्रा के दौरान ग्रीष्मकाल में ऋषिराय 'झाबुआ' की ओर पधारे। उस प्रदेश में बहुत गहन जंगल हैं। कहावतों में आज भी 'झाड़ीबंको झाबुओ' प्रसिद्ध है। उस बीहड़ जंगल में से विहार करते समय एक दिन ऋषिराय तो आगे-आगे चल रहे थे और उनके चरणों का अनुसरण करते हुए थोड़ा पीछे मुनि जीत चल रहे थे। अचानक सामने की झाड़ियों में कुछ हलचल हुई, सबका ध्यान उधर जाए इतने में ही एक भीमकाय भालू मार्ग पर आ खड़ा हुआ।

'आप ठहरिए! आगे मुझे आने दीजिए' मुनि जीत ने कहा और उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना तत्काल लपककर आगे आ गए। मार्ग में खड़े भालू ने एक क्षण के लिए उधर देखा, पर संभवतः ऐसे महान पदयात्री के मार्ग में बाधक बनना अनुपयुक्त समझकर वह दूसरी ओर की झाड़ियों में घुसकर अदृश्य हो गया। उपसर्ग का भय टल गया। ऋषिराय अपने शिष्य-वर्ग के साथ गंतव्य की ओर आगे बढ़ गए। युवक मुनि जीत का साहस और गुरु-भक्ति सबके लिए एक उदाहरण बन गई।

जयाचार्य का अनुशासन बहुत प्रभावी था। इस डोर को उन्होंने कभी भी ढीला नहीं छोड़ा। उनका मंतव्य रहता था कि किसी एक के अनुशासन-भंग पर उपेक्षा की गई तो निश्चित ही अन्य व्यक्ति भी उसका अनुसरण करने लगेंगे। इसलिए अनुशासन की अवहेलना उनकी दृष्टि में बहुत बड़ा दोष था। अनुशासनहीनता के छोटे-से-छोटे प्रसंग पर भी वे पूर्ण सावधानी रखते और तत्काल उसका निराकरण करते।

स्तबकार्थ

एक बार जयाचार्य ने चंद्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र का स्तबकार्थ (लघु व्याख्या) लिखना प्रारंभ किया। उक्त दोनों आगमों का संबंध खगोल से है। गणित उनका मूल आधार है। माना जाता है कि कुछ विशिष्ट मंत्र भी उनमें हैं। उक्त सभी विषय जयाचार्य की रुचि के थे। उन्होंने उनका गहन अवगाहन किया और फिर स्तबकार्थ के कार्य को वे शीघ्रता से आगे बढ़ाने लगे।

एक वयोवृद्ध स्थानकवासी मुनि एक दिन उनसे मिले और पूछने लगे कि आजकल क्या कार्य चल रहा है? जयाचार्य ने स्तबकार्थ की बात बतलाई। वृद्ध मुनि काफी अनुभवी थे तथा तेरापंथ

के प्रति अत्यंत अनुकूल भावना रखते थे। उन्होंने जयाचार्य से कहा—'इन आगमों पर प्राचीन आचार्यों ने भी विशेष-कुछ नहीं लिखा है। इसका कोई-न-कोई विशेष कारण है।' उन्होंने फिर कोई रहस्यभरी बात उनके कान में कही। आचार्यश्री ने तब उस परामर्श को हितकर माना और स्तबकार्थ लिखना स्थगित कर दिया। जितना लिखा गया था वह आज भी संघ के ग्रंथागार में विद्यमान है।

ऊर्ध्वरेखा

मुनि जीत संवत 1889 में दिल्ली पधारे। तब वे अग्रणी हो गए थे। वहां प्रातः शौचार्थ यमुना नदी की ओर गए। नदी की रेत में अंकित उनके पद-चिह्नों को एक पाद रेखा-विशेषज्ञ (सामुद्रिक विद्वान) ने देख लिया। ऊर्ध्वरेखा-युक्त उस पद-पंक्ति ने उसे विस्मय और संदेह के चक्र में फंसा दिया। विस्मय उसे इस बात का था कि सम्राट जैसे रेखा-चिह्नों वाला यह व्यक्ति यहां नंगे पैर क्यों घूमने आया? और संदेह उसे यह होने लगा कि ऐसी रेखाओं वाला व्यक्ति भी जब नंगे पैर घूम रहा है तब सामुद्रिकशास्त्र की सत्यता का कैसे विश्वास किया जा सकता है? ऐसे ही विकल्पों में डूबता-उतराता वह पाद रेखा-विशेषज्ञ पद-चिह्नों का अनुगमन करता हुआ आगे बढ़ा। मुनि जीतमलजी आगे-आगे ही जा रहे थे। वह उनके पास पहुंचा। नमस्कार करके उनसे परिचय किया और फिर वार्तालाप करने लगा। उनके व्यक्तित्व तथा वार्तालाप से प्रभावित होकर कहने लगा—'मैं सम्राट जैसे इन चरण-चिह्नों को देखकर तो बड़ा असमंजस में पड़ गया था, पर अब निस्संदेह कह सकता हूं कि आप परिव्राट हो गए हैं तो क्या हुआ, आपकी रेखाएं कह रही हैं कि अवश्य ही एक दिन आप परिव्राजक संघ के सम्राट बन जाएंगे।'

व्यवहार से साधु

संवत 1911 के रतलाम चातुर्मास में एक दिन विभूतिसिंहजी पटवा व अन्य संप्रदाय के कुछ श्रावक जयाचार्य से चर्चा करने के लिए आए। वे एक ब्राह्मण को भी कुछ सिखा-पढ़ा कर अपने साथ लाए। पंडितजी ने चर्चा करते हुए जयाचार्य को कहीं-न-कहीं अटका देने की भावना से पास में बैठे हुए एक साधु की ओर संकेत करके पूछा—'आप इन्हें क्या समझते हैं?'

पंडितजी की भावना को जयाचार्य तत्काल भांप गए। उन्होंने सीधा उत्तर नहीं देते हुए उन्हीं से प्रति-प्रश्न किया—'किसी व्यक्ति से कोई पूछे कि उसके पिता का क्या नाम है? तब उसे अपने पिता का नाम किस आधार पर बताना चाहिए?'

इस पर पंडितजी कुछ नहीं बोले। क्योंकि उन्हें जयाचार्य के उस प्रति-प्रश्न के साथ ही अपने प्रश्न के समाप्त हो जाने की झलक दिखाई देने लगी, परंतु नहीं बोलना भी साथ के व्यक्तियों को अपने पक्ष को कुछ हीन करने वाला लगा। अतः पटवाजी ने कहा—'मूलतः तो उसकी मां ही जानती है, पर व्यवहार के आधार से जिसका बेटा होता है, उसी का नाम बतलाया जाता है।'

इस पर जयाचार्य बोले—'बस, इसी तरह मूलतः तो यह जैसा केवली स्वीकार करते हैं, वैसा है, पर व्यवहार से हम इसे साधु समझते हैं।'

पंडितजी की सारी चालाकी धरी रह गई। उन्होंने तो सोचा था कि जब ये उसे साधु कहेंगे तब मैं उनकी बात को पकड़कर 'मिच्छामि दुक्कडं' दिलाऊंगा, क्योंकि सर्वज्ञ हुए बिना वे उसे निश्चित रूप से साधु कैसे कह सकते हैं? परंतु उसे क्या पता था कि जयाचार्य जैसे मर्मज्ञ आचार्य उसके छल में कैसे फंस सकते हैं?

कितने आगम?

शास्त्रार्थ में युक्तिसंगत उत्तर देने में जयाचार्य प्रारंभ से ही बहुत निपुण थे। कौन व्यक्ति किस दृष्टिकोण से पूछ रहा है, यह सब वे तत्काल भांप लिया करते थे। शास्त्रों के अस्खलित ज्ञान और उत्तर देने की निरुपम पद्धति ने उनको अजेय बना दिया था। अपनी अग्रणी अवस्था में संवत 1889 का चातुर्मास उन्होंने दिल्ली में किया। उससे पूर्व शेषकाल में जब वे दिल्ली में रहे तब एक बार मूर्तिपूजक समाज के बहुत-सारे व्यक्ति मिलकर उनसे चर्चा करने के लिए आए। उन सबका नेतृत्व करते हुए किसनचदजी ओसवाल ने प्रश्न उपस्थित किया कि आप आगम कितने मानते हैं?

जैनों में सदा ही यह एक विवादास्पद प्रश्न रहा है। विभिन्न संप्रदायों के लोग आगमों की भिन्न-भिन्न संख्या स्वीकार करते हैं। दिगंबर जहां मूल आगमों का विच्छेद होना मानते हैं, वहीं श्वेतांबरों में आगमों की बत्तीस, पैंतालीस और चौरासी तक संख्या मानी जाती है। कुछ तो ऐसे भी हैं जो निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीका और टब्बा—आगमों के इन पांचों व्याख्याग्रंथों को भी आगमवत ही प्रमाण मानते हैं। मुनि जय विवादों के जंगल में इस बात को उलझाना नहीं चाहते थे, अतः एक नए ही मार्ग का अवलंबन करते हुए उन्होंने आगम की भाषा में ही उत्तर दिया—'हम तीन आगम मानते हैं : सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम।'

प्रश्नकर्ता किसनचंदजी ओसवाल उस उत्तर से बहुत झुंझलाए। बत्तीस, पैंतालीस और चौरासी आगमों की संख्या के विषय में वे अनेक तर्क प्रस्तुत करना चाहते थे, परंतु मुनि जय के उस उत्तर के आगे वे सब धरे-के-धरे ही रह गए। उन्होंने तब नए तर्क को टटोलते हुए पूछा—'तो फिर आप निर्युक्ति, भाष्य आदि व्याख्याग्रंथों को मानते हैं या नहीं?'

मुनि जय ने उत्तर में कहा—'सूत्रागम से मेल खाने वाले व्याख्याग्रंथों की सभी बातें हमें मान्य हैं।'

प्रश्नकर्ता ने अपने व्यंग्य पर धार देते हुए कहा—'तब आपको चार आगम मानने होंगे? तीन तो आपने अभी बतलाए ही हैं। अब यह 'मिलतागम' चौथा और हो गया।'

मुनि जय भी कब चूकने वाले थे। उन्होंने कहा—'तब फिर आप लोगों का तो चार से भी निस्तार नहीं होगा। एक 'अ-मिलतागम' और मानना पड़ेगा, क्योंकि निर्युक्ति, भाष्य आदि में अनेक ऐसे प्रसंग भी तो हैं जो मूल आगमों से विरुद्ध जाते हैं।'

इसके प्रत्युत्तर में कोई कुछ भी नहीं कह पाया। वे सब एक-दूसरे के मुंह की ओर ताकते रह गए।

मैं ही बैठा हूं न!

जयपुर के अंतिम प्रवास संवत 1937-38 में जयाचार्य के पास एक जौहरी आया करते थे। वे मूर्तिपूजक आम्नाय के थे। तत्त्व-चर्चा में रुचि रखने के कारण यदा-कदा अपनी जिज्ञासाओं के समाधान के लिए वहां आ जाया करते थे। जयाचार्य द्वारा प्रदत्त समाधान उन्हें शास्त्रीय होने के साथ-साथ तर्कसंगत भी प्रतीत होते थे। वे बहुधा कहा करते—'मेरी जिज्ञासाओं को तो जयाचार्य ही ढंग से समाहित करते हैं। हमारे साधुओं से पूछता हूं तो उनसे अधकचरे उत्तर ही प्राप्त होते हैं। उनके आधार पर कोई निःशंक धारणा नहीं बनाई जा सकती। मुझे तो जयाचार्य के उत्तरों से ही मनस्तोष मिलता है, इसलिए बार-बार यहां उपस्थित होता हूं।'

एक बार जौहरीजी काफी दिनों से आए। जयाचार्य उन दिनों अस्वस्थ चल रहे थे। इस बात का उन्हें पता था, अतः वंदन और सुख-पृच्छा के पश्चात् वे वहां बैठे नहीं। पार्श्ववर्ती किसी मुनि से उन्होंने पूछा—'मघजी महाराज कहां विराजते हैं?' जयाचार्य को बहुत आश्चर्य हुआ कि आज मघजी से इन्हें ऐसा कौन-सा विशेष काम है? जयाचार्य ने पूछ ही लिया—'क्यों जौहरीजी! आज मघजी को क्यों पूछ रहे हो?'

जौहरीजी ने उत्तर दिया—'कार्यवश कई दिनों से यहां आ नहीं पाया। अनेक जिज्ञासाएं एकत्र हो गईं। उनके समाधान के लिए ही मघजी महाराज की खोज कर रहा था।'

जयाचार्य—'मैं ही बैठा हूं न! यहीं पूछ लो। मुझे आएगा उतना मैं बतला दूंगा, शेष रहेगा वह मघजी महाराज से पूछ लेना।'

जौहरीजी ने सकुचाते हुए कहा—'आप यह क्या फरमा रहे हैं? आप अस्वस्थ हैं, इसलिए आपको कष्ट देना उचित न समझकर ही मैं मघजी महाराज को पूछ रहा था।'

जयाचार्य—'आपके प्रश्नों का समाधान कर सकने जितना स्वस्थ तो हूं ही। आप निस्संकोच पूछें।'

जौहरीजी तब वहीं बैठे और अपने प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने में लग गए।

कितनी शूलें?

संसार में सुझाव देने वालों की शायद ही कभी कोई कमी रही हो। जयाचार्य के पास भी विभिन्न प्रकार के सुझाव आते रहते थे। औचित्य की मात्रा देखकर वे उनमें से कुछ को स्वीकार कर लेते और कुछ को नहीं। परंतु एक बार उन्हें ऐसे सुझाव पर भी ध्यान देना पड़ा, जिसका वे औचित्य नहीं मानते थे। घटना इस प्रकार हुई कि एक बार वे आमेट पधारे तो वहां एक श्रावक ने सुझाव देते हुए कहा—'शूलों के घर में कांटे या शूलें रखने के पात्र में शूलों की संख्या का निर्धारण होना चाहिए। अन्यथा मुनिजन अनावश्यक ही बहुत सारी शूलें इकट्ठी कर लेते हैं।'

जयाचार्य ने फरमाया—'शूलें तो कांटे निकालने के काम आती हैं। वे विशेष स्थानों पर ही मिलती हैं, अतः जहां नहीं होतीं, वहां संतों को देने के लिए अधिक भी ले ली जाएं तो इसमें क्या दोष है?'

जयाचार्य के सम्मुख प्रत्युत्तर तो वह नहीं कर सका, परंतु उसके मन में वह बात जमी नहीं। धीरे-धीरे वही साधारण-सी बात आग्रह के रूप में परिणत हो गई। उसने आना-जाना छोड़ दिया। यहां तक कि वंदन-व्यवहार भी बंद कर दिया।. कालांतर में जयाचार्य का जब पुनः आमेट में पदार्पण हुआ तो एक दिन वह भाई मार्ग में मिल गया। आचार्यश्री ने उसे बतलाया और संतों के पास आना-जाना छोड़ने का कारण पूछा। उसने कहा—'मेरे हृदय में तो शूलें चुभ रही हैं, जब तक आप उनके लिए कोई नियम नहीं बना देंगे, तब तक मैं नहीं आऊंगा।'

जयाचार्य को उसका आग्रह तो अवश्य ही बड़ा विचित्र-सा लगा होगा, परंतु वे मानव-मन की ऐसी

विचित्रताओं से अभिज्ञ थे, अतः स्यात यही सोचा होगा कि शूलों की संख्या निर्धारित कर देने मात्र से ही यदि इसके श्रावकत्व की रक्षा होती है, तो क्यों न ऐसा कर दिया जाए? उन्होंने तब उस प्रौढ़ व्यक्ति के 'बालहठ' की पूर्ति करने के लिए यह नियम बनाया कि शूलों के एक घर में 13 शूलों से अधिक न रखी जाएं। उस श्रावक को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई और वह पूर्ववत आने-जाने लग गया।

जयाचार्य ऐसी स्थितियों में 'सांप मर जाए और लाठी भी न टूटे' के सिद्धांत का अनुसरण किया करते थे। उक्त प्रकरण में भी उन्होंने वैसा ही किया। शूलों के एक घर में कितनी शूलें होनी चाहिए, यह निर्धारण तो उन्होंने कर दिया, परंतु एक साधु को शूलों के कितने घर रखने चाहिए, इस विषय में कोई नियम नहीं बनाया। उसे उन्होंने साधु-साध्वियों के अपने विवेक पर ही छोड़ दिया।

दंड और वरदान

जयाचार्य मालव-यात्रा संपन्न करने के पश्चात् मेवाड़ पधार गए। वहां पाली के श्रावक दर्शन करने के लिए आए और पाली में साधुओं के चातुर्मास की प्रार्थना करने लगे। चातुर्मास के लिए साधुओं और साध्वियों में किया गया भेद जयाचार्य को उचित नहीं लगा। उन्होंने प्रकारांतर से उन लोगों को समझाया भी, पर वे उनके संकेत को स्पष्ट नहीं समझ पाए। अतः बार-बार अपनी ही बात पर जोर देते रहे। श्रावक-वर्ग वहां कुछ दिन सेवा में रहकर वापस पाली आ गया और आशा लगाए रहा कि किसी-न-किसी का चातुर्मास तो कराएंगे ही। पाली जैसे प्रमुख क्षेत्र के खाली रहने की तो आशंका ही नहीं की जा सकती थी। पर जयाचार्य ने इस भेद-वृत्ति को मिटाने के लिए उन्हें संतों का तो क्या, सतियों का भी चातुर्मास नहीं दिया।

जयाचार्य ने संवत 1912 का अपना चातुर्मास उदयपुर करने की घोषणा की तथा अन्य सब सिंघाड़ों के लिए भी चातुर्मास-क्षेत्र निश्चित कर दिए। उनमें पाली का नाम नहीं था। आषाढ़-पूर्णिमा समीप आ गई और पाली के लिए किसी सिंघाड़े की भी घोषणा नहीं हुई। अतः श्रावक बड़े चिंतित हुए कि यह कार्य कैसे और क्यों हुआ? अब इतना समय भी अवशिष्ट नहीं था कि उदयपुर में जयाचार्य के दर्शन करके चातुर्मास प्राप्त किया जा सके। उन्होंने मिलकर एक युक्ति सोची और पाली से लगभग दस मील पर स्थित 'खेरवा' ग्राम के श्रावकों के नाम एक पत्र लिखकर 'सेवग' के हाथों आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को वहां भेजा। उसमें समाचार थे कि जयाचार्य ने खेरवा चातुर्मास करने वाली साध्वीश्री छोटी चतरूजी को पाली चातुर्मास करने की आज्ञा प्रदान की है। अतः उन्हें पाली आकर पाक्षिक प्रतिक्रमण करने की प्रार्थना करें।

इस समाचार से किसी को कोई आशंका नहीं हुई, क्योंकि उस समय पाली इतना प्रमुख क्षेत्र था कि उसका खाली रहना ही आश्चर्यजनक हो सकता था। खेरवा-निवासियों को इस प्रकार से चातुर्मास छिन जाने से दुख तो हुआ, किंतु पालीवासियों के सम्मुख वे कर भी क्या सकते थे? साध्वियों ने आषाढ़-पूर्णिमा को प्रातः विहार किया और उसी दिन पाली पहुंच गईं। श्रावक अपनी चाल में सफल हो गए। चातुर्मास्य पाक्षिक प्रतिक्रमण सायंकाल संपन्न हो जाने के पश्चात् वहां के श्रावक-वर्ग ने 'खमत-खामणा' करते हुए साध्वियों के सामने सारी घटना निवेदित कर दी। उन्होंने बतलाया कि यहां चातुर्मास करने संबंधी जयाचार्य की कोई आज्ञा नहीं थी, किंतु क्षेत्र खाली देखकर हमसे रहा नहीं गया, अतः हमने जाली पत्र बनाकर खेरवा के श्रावकों को भेज दिया था। जान-बूझकर किए गए इस अविनय के लिए हम सब आपके सामने क्षमाप्रार्थी हैं।

साध्वियों ने उक्त बात सुनी तो वे बहुत खिन्न हुईं। आचार्यश्री की आज्ञा के नाम पर अपने ही श्रावकों द्वारा उनके साथ बहुत बड़ा विश्वासघात किया गया था। उन्होंने श्रावकों को फटकारते हुए कहा—'आप लोगों ने यह बहुत ही अनुचित कार्य किया है। चातुर्मास प्रारंभ हो जाने के कारण अब हम विहार करके अन्यत्र तो नहीं जा सकतीं, परंतु आज से हम यहां न तो व्याख्यान देंगी और न आप लोगों के घरों में गोचरी के लिए ही जाएंगी।' साध्वियों के उक्त निर्णय से श्रावक बड़ी दुविधा में फंस गए। चातुर्मास हो जाने पर भी वे उसके लाभ से वंचित हो गए। सबने मिलकर साध्वियों के सम्मुख बहुत अनुनय-विनय किया, परंतु उन्होंने कोई बात स्वीकार नहीं की। वे दूसरे घरों से आहार-पानी लातीं और दिनभर अपने स्वाध्याय-ध्यान में लगी रहतीं।

इस स्थिति में श्राविकाओं ने मिलकर साध्वियों पर बहुत दबाव डाला। उन्होंने कहा—'जो-कुछ भी किया है, श्रावकों ने किया है, हम बहिनों का इसमें कोई दोष नहीं है। व्याख्यान और गोचरी बंद करके आप हम निर्दोषों को दंड क्यों दे रही हैं? आपको दंड ही देना है तो श्रावकों को दीजिए। उन्हें व्याख्यान मत सुनाइए, उनके हाथ से आहार-पानी मत लीजिए, परंतु इस प्रकार मोठों के साथ घुणों को पीस डालना तो न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।'

श्राविकाओं के ऐसे विनय-भरे निवेदन तथा उपालंभ पर भी साध्वियों ने अपने निर्णय में कोई परिवर्तन नहीं किया।

श्रावकों ने अतीव अनुताप के साथ अनुभव किया कि हाथ जलाकर भी वे 'होले' नहीं खा सके। समस्या का कोई समाधान दृष्टिगत नहीं हुआ। तब उन लोगों ने उदयपुर जाकर जयाचार्य के दर्शन करने की बात सोची। उनकी समझ में आ गया था कि अपने दोष को स्वीकार कर लेने से ही अब इस समस्या का हल हो सकता है। कुछ प्रमुख श्रावकों ने तब उदयपुर जाकर दर्शन किए। प्रातःकालीन व्याख्यान में खड़े होकर उन्होंने जाली पत्र से लेकर साध्वियों के पाली आगमन तथा व्याख्यान और गोचरी बंद कर देने तक की सारी घटना यथावत निवेदित कर दी। अनुताप-भरे स्वर में उन्होंने कहा—'प्रभो! हम आपकी आज्ञा के चोर हैं, अतः आपकी जो इच्छा हो वह दंड हमें दें।'

जयाचार्य उन श्रावकों के उस कार्य से बड़े खिन्न हुए। उन्होंने पाली के श्रावकों से आज्ञातिक्रमण की ऐसी आशा नहीं की थी। भरी सभा में जयाचार्य ने उन्हें काफी उपालंभ दिया, पर वे तो उस सबके लिए तैयार होकर आए थे, अतः बड़ी नम्रता के साथ एक बात दोहराते रहे कि हम दोषी हैं, अतः आप जितना भी उपालंभ या दंड दें, उस सबके पात्र हैं। आप हमें दंड दीजिए, परंतु साथ ही पाली में विराजित साध्वियों को व्याख्यान देने तथा हमारे घरों की गोचरी करने की आज्ञा दे दीजिए। इसके बिना हम पाली जाकर मुंह दिखाने योग्य भी नहीं रह पाएंगे।

जयाचार्य कई दिनों तक उन्हें परखते रहे। उनकी नम्रता घटने के स्थान पर बढ़ती ही गई। आखिर जयाचार्य को पिघलना ही पड़ा। वे पिघले और ऐसे पिघले कि उपालंभ लेने के लिए आए हुए पालीवासियों का सीना क्षणभर में ही गजभर का हो गया। उन्होंने प्रातःकालीन व्याख्यान में उनकी नम्रता की प्रशंसा की और तत्रस्थ साध्वियों को व्याख्यान देने तथा गोचरी करने की आज्ञा प्रदान कर दी। पालीवासी उस कृपा के लिए कृतज्ञता व्यक्त करें उससे पूर्व ही उन्होंने फरमाया—'लो अब आगे की सुनो! आगामी वर्ष (संवत 1913) का मैं अपना चातुर्मास पाली में करने का विचार रखता हूं।' उस अयाचित कृपा से पालीवासी गद्‌गद् हो गए। दंड लेने के लिए आए हुओं की झोली उन्होंने वरदान से भर दी।

प्रभावी अनुशासन

जयाचार्य का अनुशासन बहुत प्रभावी था। इस डोर को उन्होंने कभी भी ढीला नहीं छोड़ा। उनका मंतव्य रहता था कि किसी एक के अनुशासन-भंग पर उपेक्षा की गई तो निश्चित ही अन्य व्यक्ति भी उसका अनुसरण करने लगेंगे। इसलिए अनुशासन की अवहेलना उनकी दृष्टि में बहुत बड़ा दोष था। अनुशासनहीनता के छोटे-से-छोटे प्रसंग पर भी वे पूर्ण सावधानी रखते और तत्काल उसका निराकरण करते।

जीवन के अंतिम वर्ष की घटना है। जयाचार्य जयपुर में थे। वे अपना अधिकतम समय स्वाध्याय और ध्यान में लगाया करते थे। संघ की व्यवस्थाओं के संचालन का भार प्रायः युवाचार्य मघवा पर ही निर्भर था। एक दिन सायंकालीन प्रतिक्रमण के समय जयाचार्य ध्यानस्थ थे। पास में ही युवाचार्य विराजमान थे। मुनि जुहारजी शौच के लिए बाहर गए हुए थे। वे लौटकर आए तब कुछ-कुछ अंधेरा हो चुका था। युवाचार्य मघवा ने उनसे कहा—'इतनी देरी कैसे कर दी? सूर्यास्त होने से पूर्व ही वापस आ जाना चाहिए था। देखते नहीं, कितना अंधेरा हो गया है? इस दोष के लिए पांच 'परिष्ठापन' (यह प्रायश्चित्त पहले 'मंडलिया' नाम से प्रचलित था। जयाचार्य ने उसे 'परठना' (परिष्ठापन) नाम प्रदान किया। आचार्यश्री तुलसी ने उसी को अब 'कल्याणक' नाम प्रदान किया है।) का प्रायश्चित्त स्वीकार करो।'

मुनि जुहारजी ने अप्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'शारीरिक आवश्यकता किसी के रोके थोड़े ही रुकती है? उसमें विलंब हो गया, उसका मैं क्या कर सकता हूं? मैं इसे नहीं मानता। बात-बात में प्रायश्चित्त की यह बला क्या है?'

युवाचार्य मौन रह गए। मुनि जुहारजी तुनतुनाते हुए अंदर चले गए। जयाचार्य ने ध्यान संपन्न करते ही उन्हें बुलाया और फरमाया—'शारीरिक आवश्यकतावश विलंब तो हो सकता है, परंतु क्या उसका प्रयाश्चित्त करना आवश्यक नहीं होता? प्रायश्चित्त को अस्वीकार करके तुमने अनुशासन को भंग किया है, अतः तुम्हारा संघ से संबंध-विच्छेद किया जाता है।' किसी ने कल्पना भी नहीं की होगी कि अनुशासन-भंग का दुष्परिणाम इस स्थिति तक पहुंच जाएगा।

जयाचार्य ने युवाचार्यश्री से कहा—'याद रखो, एक के भी अनुशासन-भंग को चुपचाप सह लेने का अर्थ होता है दूसरों को उसी मार्ग पर चलने का निमंत्रण देना।'

❖

शिक्षक दिवस पर विशेष

शिक्षा का समाधायक रूप

❑

❑ साध्वी योगक्षेमप्रभा ❑

विद्या वही है, जो मुक्ति का पथ प्रशस्त करे। प्रत्येक प्राणी मुक्ति चाहता है। बंधन किसी को प्रिय नहीं है। बंधन का हेतु है—अज्ञान। ज्ञान मुक्ति का सहयायी (अनुगामी) है। शिक्षा के क्षेत्र में मुक्ति का तात्पर्य है—अज्ञान-तिमिर का नाश करना। अतः शिक्षा वह है जो ज्ञान की रश्मियां फैलाकर अज्ञान की परतों को भेद डाले। शिक्षा जीवन का प्रकाश है। वह उन्नति का आश्वास है। जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षा की उपयुज्यता स्वतः प्रमाणित होती है।

शिक्षा-काल में संचित संस्कारों की नींव पर ही आदर्श जीवन की इमारत खड़ी होती है। राष्ट्र की स्वस्थता और सुघड़ता उसके कर्णधारों के चरित्र पर आधृत है। विद्यार्थी जीवन संपूर्ण भविष्य की बुनियाद है। विद्यार्थी का जीवन सद्संस्कारों की सुरभि से महकता रहे, एतदर्थ प्रारंभ से ही ध्यान देना अपेक्षित है। विद्यार्थी का निर्माण मात्र इकाई का निर्माण नहीं है, संपूर्ण राष्ट्र के निर्माण का लक्ष्य उसमें निहित है। जब बचपन की डालियां सुसंस्कारों एवं सद्गुणों के फूलों से लदी हुई होंगी तो समग्र वृक्ष की सौरभ शतगुणित हो जाएगी। इस दृष्टि से अभिभावकों और शिक्षकों को भी इस दिशा में समुचित प्रयास करने जरूरी हैं। शैक्षणिक विकास के साथ ही संस्कारों के बिरवे फलते जाएं और बुरी आदतों तथा मलिन वृत्तियों की अवांछित घास का परिष्कार होता रहे।

स्वस्थ समाज रचना का आधार शिक्षा तभी बन सकती है जब वह समग्र विकास की हिमायती हो। अखंड व्यक्तित्व के निर्माण हेतु संवादी सूत्रों को खोजना होगा। साथ-ही-साथ शिक्षा जगत में पनप रही विसंगतियों को मिटाना होगा। जीवन-विज्ञान के रूप में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने शिक्षा जगत को इस परिप्रेक्ष्य में एक अनुपम उपहार प्रदान किया है। यह स्वस्थ समाज-संरचना का अभिनव उपक्रम है। मूल्यपरक शिक्षा का यह अनूठा उपक्रम है। अखंड व्यक्तित्व के निर्माण का स्वप्न इससे फलित हो सकता है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और भावनात्मक विकास से शिक्षा को पूर्णता प्रदान करने का इसमें प्रयास हुआ है।

शिक्षा के कई महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हैं, यथा—विवेक-चक्षु का जागरण, संवेदनशीलता का विकास, पारस्परिकता का विकास, सहिष्णुता का विकास ग्रहणशीलता का विकास, सामाजिक चेतना का विकास, पर्यावरण की चेतना का विकास।

इन उद्देश्यों को परिपूर्ण करने वाली शिक्षा ही आदर्श शिक्षा हो सकती है। शिक्षा एक ओर जहां विद्यार्थियों का जीवन-निर्माण करती है, वहीं परिष्कार के दायित्व का भी निर्वाह करती है। परिवार, समाज और राष्ट्र के फलक पर उभरने वाली समस्याओं का समाधान करना भी शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य है। किंतु आज शिक्षा का समाधायक रूप धुंधला-सा हो रहा है। शिक्षा स्वयं ही समस्याओं के घेरे में आबद्ध है। शिक्षा के क्षेत्र में अनेक विजातीय एवं अवांछनीय तत्त्वों की घुसपैठ हो रही है।

आज विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय नशे के अड्डे बनते जा रहे हैं, शिक्षा के पावन मंदिर राजनीति के अखाड़े बन रहे हैं। उच्छृंखलता, अनुशासन-हीनता, हडतालें, तोड़फोड़-मूलक प्रवृत्तियां—आदि से विद्यार्थी अपना गौरव भूल रहे हैं। विद्यार्जन के सही लक्ष्य को भूलकर वे दिशाहीन-से भाग रहे हैं। शिक्षा का लक्ष्य मानो 'डिग्री' तक ही

सिमट गया है। यही वजह है कि फर्जी प्रमाणपत्र एवं नकली उपाधियों की बाढ़-सी आ रही है। शिक्षा का व्यवसायीकरण राष्ट्र के लिए कितना घातक है, यह सोच का विषय है। दोष कोरे विद्यार्थियों का नहीं, मूल में ही भूल है। गुरु के गरिमामय आसन पर समासीन शिक्षक भी व्यवसायी बन गए हैं। विद्यादान समाजसेवा या राष्ट्रीय कर्तव्य न रहकर अर्थार्जन का साधनमात्र रह गया है। ऐसी स्थिति में राष्ट्र-उत्थान की परिकल्पना ही बेमानी-सी लगती है।

शिक्षा के अनेक संकाय हैं। भाषा, साहित्य, कला, समाजशास्त्र, इतिहास, भूगोल, खगोल, विज्ञान, तकनीकी आदि अनेकानेक विषयों को पढ़ने की व्यवस्था है। बौद्धिक विकास का चक्र तो द्रुतगति से आगे बढ़ रहा है, बौद्धिकता की धार भी दिन-ब-दिन पैनी होती जा रही है, किंतु बिना म्यान की तलवार की भांति नए खतरे की ओर संकेत भी यह शिक्षा कर रही है। 'विवेक की म्यान' के अभाव में 'बौद्धिकता का अस्त्र' कितना अहितकारक सिद्ध होगा—कहा नहीं जा सकता। यही कारण है कि उत्तेजना, आवेग-आवेश और संवेग अनियंत्रियत रूप से बढ़ते ही जा रहे हैं। उच्चशिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी अपने संवेगों पर नियंत्रण नहीं साध पाते। दूसरों को मार्ग दिखाने वाले ही स्वयं भटक रहे हैं। मानसिक और भावनात्मक विकास के अभाव में कोरा बौद्धिक विकास स्वस्थ व संतुलित व्यक्तित्व कैसे घड़ सकता है?

स्वस्थ समाज-रचना का आधार शिक्षा तभी बन सकती है जब वह समग्र विकास की हिमायती हो। अखंड व्यक्तित्व के निर्माण हेतु संवादी सूत्रों को खोजना होगा। साथ-ही-साथ शिक्षा जगत में पनप रही विसंगतियों को मिटाना होगा। जीवन-विज्ञान के रूप में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने शिक्षा जगत को इस परिप्रेक्ष्य में एक अनुपम उपहार प्रदान किया है। यह स्वस्थ समाज-संरचना का अभिनव उपक्रम है। मूल्यपरक शिक्षा का यह अनूठा उपक्रम है। अखंड व्यक्तित्व के निर्माण का स्वप्न इससे फलित हो सकता है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और भावनात्मक विकास से शिक्षा को पूर्णता प्रदान करने का इसमें प्रयास हुआ है।

शिक्षा के क्षेत्र में पनप रही विसंगतियों को मद्देनजर रखते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा है कि कोरा सैद्धांतिक शिक्षण-प्रशिक्षण परिवर्तन घटित नहीं कर सकता। सिद्धांत के साथ प्रयोग का जुड़ना बहुत जरूरी है। सिद्धांत के शिक्षण के साथ प्रायोगिक प्रशिक्षण की जीवन-विज्ञान में समुचित व्यवस्था है। सैद्धांतिक एवं प्रायोगिक प्रशिक्षण का समन्वित प्रयोग ही जीवन-विज्ञान है। प्रयोगों के साथ शिक्षार्जन करने वाला विद्यार्थी सुघड़ जीवन का निर्माण कर सकता है।

इसी प्रकार अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत के माध्यम से 'व्यक्ति-सुधार' की बात घर-घर तक फैलाई। शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त बुराइयों को जड़ से मिटाने हेतु उन्होंने विद्यार्थी और शिक्षक, दोनों के लिए आचार संहिता प्रदान की। वर्गीय अणुव्रत के छोटे-छोटे नियम घोर अंधकार में नन्हे-नन्हे दीपों की भांति प्रकाश भरने वाले साबित हो रहे हैं। विद्यार्थी अणुव्रत के नियम इस प्रकार हैं—

- मैं परीक्षा में अवैध उपायों का सहारा नहीं लूंगा।
- मैं हिंसात्मक एवं तोड़फोड़-मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
- मैं अश्लील शब्दों का प्रयोग नहीं करूंगा, अश्लील साहित्य नहीं पढ़ूंगा और अश्लील चलचित्र नहीं देखूंगा।
- मैं मादक तथा नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।
- मैं चुनाव के संबंध में अनैतिक आचारण नहीं करूंगा।
- मैं दहेज से अनुबंधित एवं प्रदर्शन से युक्त विवाह नहीं करूंगा और न भाग लूंगा।
- मैं बड़े वृक्ष नहीं काटूंगा और प्रदूषण नहीं फैलाऊंगा।

शिक्षक अणुव्रत के नियम इस प्रकार हैं—

- मैं विद्यार्थी के बौद्धिक विकास के साथ चरित्र-विकास में भी सहयोगी बनूंगा।
- मैं विद्यार्थी को उत्तीर्ण करने में अवैध उपायों का सहारा नहीं लूंगा।
- मैं अपने विद्यालय में दलगत राजनीति को प्रश्रय नहीं दूंगा और न इसके लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करूंगा।
- मैं मादक और नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।
- मैं अणुव्रत-प्रसार में अपना योग दूंगा।

विद्यार्थी अणुव्रत एवं शिक्षक अणुव्रत के इन नियमों से संपूर्ण राष्ट्र का कल्याण हो सकता है। चूंकि आज का विद्यार्थी ही कल का व्यवसायी, राजनेता, शिक्षक, वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकीविद, कलाकार, साहित्यकार या पत्रकार आदि की भूमिका निर्वाह करने वाला है, अतः अणुव्रत और जीवन-विज्ञान के आलोक में भावी पीढ़ी के निर्माण को सुनिश्चित करने पर विचार किया जाना चाहिए। शिक्षक दिवस पर राष्ट्र के प्रति यही सच्ची कृतज्ञता होगी। ❖

कहानी

छुट्टी

❑

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

पलकों के सरदार फटिक चक्रवर्ती के दिमाग में झट एक नई लहर दौड़ गई। नदी के किनारे एक बहुत बड़ा साखू का लट्ठा मस्तूल बनने की प्रतीक्षा में पड़ा था। यह तय हुआ कि उसे सब लड़के मिलकर लुढ़काते हुए ले चलें।

जिस आदमी की लकड़ी है, जरूरत के वक्त उसे कितना आश्चर्य होगा, झुंझलाहट होगी और परेशानी होगी, इसको विचारकर लड़कों ने सर्वसम्मति से इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

कमर कसकर सभी लोग इस काम में लगने को तैयार हो रहे थे। तब फटिक का छोटा भाई माखनलाल बड़ी गंभीरता से उस लट्ठे पर जाकर बैठ गया। लड़के उसकी यह उदार उदासीनता देखकर कुछ दुखी हो गए।

एक ने आकर डरते-डरते उसे तनिक धकेला भी, पर वह जरा भी विचलित न हुआ। वह असमय तत्त्वज्ञानी मानव सभी प्रकार के खेल-कूद की सारहीनता के बारे में चुपचाप बैठा चिंतन करता रहा।

फटिक ने आकर रौब जताकर घुड़की लगाई, 'सुन, मार खा जाएगा, वरना उठ झटपट!'

इस पर वह और भी जरा हिला-डुला, फिर स्थाई रूप से उस आसन पर जमकर बैठ गया।

ऐसी दशा में सर्वसाधारण के सामने अपने नेता वाले सम्मान की रक्षा के लिए फटिक का कर्तव्य था कि वह अपने ढीठ भाई के गाल पर एक तमाचा जड़ दे, पर उसे हिम्मत न पड़ी। फिर उसने ऐसा मुंह बनाया मानो वह चाहे, तो उसे अभी दुरुस्त कर दे, लेकिन नहीं करेगा, क्योंकि पहले से भी बढ़िया खेल उसके दिमाग में आया, जो और ज्यादा मजेदार खेल है। उसने प्रस्ताव किया कि माखन समेत उस लट्ठे को लुढ़काया जाए।

माखन ने सोचा, इसमें उसका गौरव ही है। अन्य दुनियावी गौरवों की तरह इसके संग चलने वाली विपत्तियों की भी कोई संभावना है, यह बात उसके या और किसी के खयाल में भी नहीं आई।

लड़कों ने कमर कसकर लुढ़काना शुरू किया, 'मारो ठेला हे-इ-यो, शाबाश जवान हे-इ-यो!' लट्ठा एक चक्कर घूम भी न पाया कि माखन अपनी गंभीरता, गौरव और तत्त्वज्ञान-समेत धरती पर आ गिरा।

खेल के आरंभ में ही ऐसी आशा के अनुरूप फल पाकर दूसरे लड़के बहुत खुश हो उठे, लेकिन फटिक कुछ घबरा-सा गया। माखन झट अपनी जमीन का बिछौना छोड़ फटिक पर टूट पड़ा और अंधे की तरह ताबड़-तोड़ मारने लगा। उसके नाक-मुंह नोच-खसोटकर रोते-रोते घर की ओर चला गया।

चंद कांस उखाड़कर उसे हाथ में लिए एक अधडूबी नाव की गलही पर जाकर फटिक बैठ गया। चुपचाप बैठा-बैठा कांस की जड़ चबाने लगा।

फटिक को सबसे ज्यादा यह बात अखरने लगी कि मामी की स्नेहशून्य आंखों में वह किसी अशुभ ग्रह-सा खटकने लगा है। कभी-कभी अगर मामी उससे किसी काम के लिए कहती, तो वह मारे खुशी के फूला न समाता। उस खुशी में वह जरूरत से ज्यादा काम कर डालता था। अंत में जब मामी उसके उत्साह को कुचलती हुई कहती, 'बस अब रहने दो, काफी हो गया। जाकर अब अपने काम में ध्यान दो। जाओ, पढ़ो-लिखो।' तब उसे अपनी मानसिक उन्नति के प्रति मामी का इतना अधिक खयाल कठोर और निर्दय-सा लगता है।

इतने में परदेस से एक नाव आकर घाट पर लगी। उसमें से खिचड़ी मूंछें और पके बाल लिए एक अधेड़ सज्जन उतर आए। उन्होंने बालक से पूछा, 'चक्रवर्तियों का घर कहां है, बच्चा?'

लड़के ने कांस चबाते हुए कहा, 'वो उधर!' लेकिन किस ओर उसने इशारा किया, कोई समझ न सका।

सज्जन ने फिर पूछा, 'किधर?' उसने कहा, 'मालूम नहीं।' इतना कहकर पहले की तरह वह घास की जड़ से रस ग्रहण करने लगा। वह बाबू तब दूसरे लोगों की सहायता लेकर चक्रवर्तियों के घर की तलाश में चल पड़े। थोड़ी ही देर में बाघा वाग्दी ने आकर कहा, 'फटिक भैया, मांजी बुला रही हैं।' फटिक ने कहा, 'नहीं जाऊंगा।'

बाघा ने उसे जबरदस्ती गोद में उठा लिया और फटिक मारे खीझ के बेकार ही हाथ-पैर पटकता रहा। फटिक को देखते ही मां आग-बबूला-सी हो उठीं। बोली, 'तूने फिर माखन को मारा है!'

फटिक ने कहा, 'नहीं मारा।'

'फिर झूठ बकता है!'

'बिल्कुल नहीं मारा। माखन से पूछो।'

माखन से पूछते ही उसने पहले ही की हुई शिकायत का समर्थन करते हुए कहा, 'हां मारा है।'

अब फटिक से न सहा गया। तेजी से लपककर उसने माखन के गाल पर एक तमाचा जड़ दिया और कहा, 'फिर झूठ!'

मां ने माखन का पक्ष लेकर फटिक को जोर से झकझोर डाला और उसकी पीठ पर दो-तीन थप्पड़ जड़ दिए। फटिक ने मां को ढकेल दिया। मां ने चिल्लाकर कहा, 'अंय, तू मुझ पर हाथ उठाता है!'

ऐसे ही समय वह अधेड़ सज्जन घर में आकर बोले, 'क्या हो रहा है तुम लोगों में?'

फटिक की मां विस्मय और आनंद से विह्वल हो बोल पड़ी, 'अरे! ये तो दादा आ गए! कब आए दादा?' कहकर उन्होंने भाई को प्रणाम किया।

बहुत दिन हुए दादा नौकरी करने पछांह चले गए थे। इस बीच फटिक की मां के दो बच्चे हुए। बच्चे काफी बड़े हो गए थे। उनके पति का देहांत हो गया था, लेकिन दादा एक बार भी अपनी बहिन से मिलने नहीं आए। आज बहुत दिनों बाद छुट्टी पाकर विश्वम्भर बाबू अपनी बहिन से मिलने आए हैं।

कुछ दिन बड़े उत्साह में बीते। अंत में विदा होने के दो-एक दिन पहले विश्वम्भर बाबू ने अपनी बहिन से बच्चों की पढ़ाई-लिखाई और उनके मानसिक विकास के बारे में पूछा। जवाब में उन्हें सुनने को मिला कि फटिक कहना नहीं मानता, नटखट और शैतान है, पढ़ने में ध्यान नहीं देता। माखन शांत और सुशील है। पढ़ने-लिखने में भी तेज है।

उनकी बहिन ने कहा, 'फटिक के मारे तंग आ गई हूं।'

सुनकर विश्वम्भर बाबू ने प्रस्ताव रखा कि वे फटिक को कोलकाता ले जाएंगे और अपने पास रखकर उसकी शिक्षा का प्रबंध करेंगे। विधवा इस प्रस्ताव पर एकदम राजी हो गई।

उन्होंने फटिक से पूछा, 'क्यों रे फटिक, मामा के साथ कोलकाता जाएगा।'

फटिक ने उछलकर कहा, 'जाऊंगा।'

हालांकि फटिक को विदा करने में उसकी मां को कोई आपत्ति न थी, क्योंकि उसको सदा यही डर बना रहता था कि किसी-न-किसी दिन वह माखन को पानी में न ढकेल दे या सिर ही न फोड़ दे या और कोई दुर्घटना न कर बैठे, फिर भी फटिक के जाने का ऐसा आग्रह देखकर मन पीड़ा से भर उठा।

फटिक ने 'मामा कब जाओगे, किस वक्त रवाना होंगे' पूछते-पूछते मामा को तंग कर डाला। मारे खुशी के उसे रात को नींद नहीं आई।

अंत में रवाना होते वक्त खुशी से भरकर वह अपनी बंसी, पतंग और चर्खी माखन को पुश्त-दर-पुश्त भोग करने का पूरा अधिकार देते हुए सौंप गया।

कोलकाता में ननिहाल पहुंचकर सबसे पहले मामी से भेंट हुई। अपने परिवार में अनावश्यक वृद्धि से मामी खुश हुई थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह अपने तीन लड़कों के साथ अपनी रुचि के अनुसार गृहस्थी चला रही थी। सहसा इन सबके बीच एक तेरह साल के अपरिचित, अशिक्षित देहाती लड़के को छोड़ देने से घर में तूफान की संभावना-सी हो गई। विश्वम्भर की अवस्था इतनी हो चुकी है, फिर भी उसे तनिक भी अक्ल नहीं।

खासतौर से तेरह-चौदह साल के लड़के के समान संसार में दूसरी कोई बला ही नहीं। न तो वह घर की शोभा है और न किसी काम के काबिल ही। न तो उसे देखकर स्नेह ही उमड़ता है और न उसकी सोहबत ही किसी के लिए सुखकर है। उसके मुंह से तोतली बोली निकले, तो लोग समझेंगे कि वह बन रहा है। साफ-साफ स्पष्ट बातें करने लगे तो कहेंगे कि बुजुर्गों की नकल करता है और उसका

बात करना ही ढिठाई है। अचानक कपड़ों-लत्तों के नाप का कुछ भी खयाल न कर बड़े ही भद्दे ढंग से उसका बढ़ते जाना भी लोगों की निगाह में एक वाहियात उद्दंडता-सी लगती है। उसके बचपन की कोमलता और कंठ की मिठास यदि महीं बनी रहती, तो लोग इसके लिए उसी को अपराधी बनाए बिना नहीं रह सकते। बचपन और जवानी के बहुत-से दोष माफ किए जा सकते हैं, किंतु इस अवस्था का कोई स्वाभाविक सहज दोष भी असहनीय-सा लगता है।

वह खुद भी मन-ही-मन समझने लगता है कि दुनिया में कहीं भी किसी से उसकी पटरी नहीं बैठ रही हैं और इस कारण अपने अस्तित्व के बारे में वह सदा लज्जित और याचक-सा बना रहता है। हालांकि इसी उम्र में स्नेह पाने के लिए मन में तनिक अधिक व्याकुलता होती है। इस समय अगर वह किसी सहृदय व्यक्ति से स्नेह-प्यार-लाड़-दुलार या साहचर्य पा जाए, तो उसके आगे वह बिछ-सा जाता है, किंतु उससे कोई लाड़-प्यार करने का साहस भी नहीं करता, क्योंकि आम लोगों की निगाह में वह सिर चढ़ाने के समान समझा जाता है। इसलिए उसका रूप-रंग और हाव-भाव कुछ-कुछ बिन मालिक के, राह के कुत्ते जैसा हो जाता है।

ऐसी दशा में मां के घर के सिवा कोई भी अनजान जगह बालक के लिए नरक के समान होती है। चारों ओर का स्नेहशून्य अनचाहापन उसके पग-पग पर कांटों की तरह चुभता रहता है। आमतौर से इस उम्र में नारी-जाति किसी श्रेष्ठ स्वर्गलोक की दुर्लभ प्राणी-सी लगती है। इसीलिए किसी नारी से उपेक्षा मिलना उसके लिए बड़ा ही असहनीय हो जाता है।

फटिक को सबसे ज्यादा यह बात अखरने लगी कि मामी की स्नेहशून्य आंखों में वह किसी अशुभ ग्रह-सा खटकने लगा है। कभी-कभी अगर मामी उससे किसी काम के लिए कहती, तो वह मारे खुशी के फूला न समाता। उस खुशी में वह जरूरत से ज्यादा काम कर डालता था। अंत में जब मामी उसके उत्साह को कुचलती हुई कहती, 'बस, अब रहने दो, काफी हो गया। जाकर अब अपने काम में ध्यान दो। जाओ, पढ़ो-लिखो।' तब उसे अपनी मानसिक उन्नति के प्रति मामी का इतना अधिक खयाल कठोर और निर्दय-सा लगता है।

घर में ऐसा अनादर था और बाहर भी सांस लेने की कोई जगह न थी। चारों ओर दीवारों से घिरे रहते-रहते उसे बार-बार गांव की याद आने लगती।

बहुत बड़ी-सी पतंग को उड़ाने के लिए बड़ा-सा मैदान, अपने बनाए हुए अर्थहीन गीत को मनमाने राग में अलापते हुए उद्देश्यहीन भटकने के लिए वह नदी का तट, दिन में जब जी में आए, तब कूदकर तैरने के लिए वह संकरी-सी नदी, अपना वह लड़कों का गिरोह, ऊधम और आजादी सब-कुछ उसे आकर्षित करते थे, किंतु सबसे बढ़कर वह अत्याचारी-अन्यायी मां उसके बेबस मन को दिन-रात अपनी ओर आकर्षित करती रहती थी।

पशुओं-सा एक सहज प्रेम, सिर्फ निकट जाने की एक अंध प्रवृत्ति, केवल एक अनदेखे के लिए अव्यक्त बेचैनी, गोधूलि के समय मां से बिछुड़े बछड़े की तरह एक हृदय से निकला हुआ 'मां-मां' पुकारता हुआ मौन क्रंदन, यह सब उस लज्जित, शंकित, दुबले, लंबे, बदसूरत बालक के हृदय में केवल उमड़ते ही रहते थे।

स्कूल में इतना मूर्ख और पढ़ने से जी चुराने वाला कोई दूसरा लड़का नहीं था। कोई बात पूछने पर वह मुंह बाए खड़ा रहता था। मास्टर जब मारना शुरू करते, तो बोझ से लदे थके गधे की तरह चुपचाप सब सह लेता। लड़कों को जब खेलने की छुट्टी मिलती, तब वह खिड़की के पास खड़ा-खड़ा दूर के मकानों की छतों को देखा करता था। जब दोपहर की धूप में किसी मकान की छत पर दो-एक लड़के-लड़कियां खेल के बहाने दिखाई पड़ जाते, तो उसका दिल बेचैन हो उठता था।

एक दिन उसने मन में दृढ़ निश्चय कर बड़ी ही हिम्मत बांधकर मामा से पूछा था, 'मामा, मां के पास कब जाऊंगा?' मामा ने कहा था, 'स्कूल में छुट्टी होने दो। कार्तिक में दुर्गापूजा होगी। अभी तो बहुत दिन हैं।'

एक दिन फटिक से स्कूल की किताबें खो गईं। एक तो यों ही पाठ याद नहीं होता, तिस पर किताबें खोकर वह एकदम असहाय-सा हो गया। मास्टर साहब रोज उसे बेधड़क मारने-पीटने और उसकी बेइज्जती करने लगे। स्कूल में उसकी ऐसी दशा हुई कि उसके ममेरे भाई भी उसके साथ अपना संबंध स्वीकार करने में लज्जा का अनुभव करने लगे। फटिक की किसी भी बेइज्जती पर वे दूसरे लड़कों से अधिक खुशी जाहिर करते।

जब उससे आगे और न सहा गया, तो एक दिन अपराधी-सा बन अपनी मामी के सामने जाकर उसने कहा, 'मेरी किताबें खो गई हैं।'

मामी ने होंठों के छोर पर गुस्से की रेखा अंकित करते हुए कहा, 'अच्छा ही किया है। मैं तुम्हारे लिए महीने में पांच बार किताबें नहीं खरीदवा सकती।'

फटिक बिना कुछ कहे चुपचाप लौट आया। वह दूसरों का पैसा बर्बाद कर रहा है, यह खयाल कर वह अपनी मां पर बहुत बिगड़ उठा। अपनी दीन-हीन स्थिति में वह मिट्टी में गड़-सा गया।

स्कूल से लौटकर उसी दिन रात को उसका सिर दुखने लगा और बदन में सरसराहट होने लगी। वह समझ गया कि उसे बुखार चढ़ आया है। साथ ही वह यह अनुभव करने लगा कि बीमारी में मामी के लिए वह एक फालतू और बेकार की मुसीबत बन जाएगा। वह अनुभव कर रहा था कि मामी इस बीमारी को किस प्रकार अनावश्यक बखेड़े के रूप में देखेगी। बीमारी के समय ऐसे निकम्मे-बुद्धू बालक को दुनिया में अपनी मां के सिवा किसी और से सेवा नहीं मिल सकती है, यह सोचते हुए भी उसे शर्म आने लगी।

अगले दिन सवेरे फटिक फिर कहीं दिखाई न पड़ा। चारों ओर पड़ोसियों के घरों में ढूंढ़ने पर भी उसका कहीं पता न लगा।

उस दिन रात से ही सावन की मूसलाधार वर्षा हो रही थी। इसलिए ढूंढ़ने में लोगों को नाहक बहुत भीगना पड़ा। अंत में जब कहीं भी उसका पता न लगा, तो विश्वम्भर बाबू ने थाने में खबर दे दी।

दिन-भर बाद शाम को एक गाड़ी विश्वम्भर बाबू के मकान के सामने आकर खड़ी हो गई। उस समय भी लगातार बारिश हो रही थी। सड़क पर घुटनों तक पानी भरा हुआ था।

पुलिस के दो सिपाहियों ने मिलकर फटिक को गाड़ी से उतारा और विश्वम्भर बाबू के पास पहुंचाया। सिर से पैर तक शरीर भीगा हुआ था, बदन-भर कीचड़ से सना हुआ था, मुंह और आंखें लाल हो आई थीं और वह थर-थर कांप रहा था। विश्वम्भर बाबू उसे गोद में उठाकर भीतर ले गए।

मामी उसे देखते ही बोल पड़ी, 'क्यों जी, पराए लड़के के लिए क्यों जान आफत में डाले हुए हो? इसे इसके घर क्यों नहीं भेज देते?'

वास्तव में दिन-भर इसी फिक्र में उन्होंने ठीक तरह से कुछ खाया-पीया भी नहीं था। अपने लड़कों पर भी नाहक काफी गुस्सा उतार चुकी थीं।

फटिक रो पड़ा, बोला, 'मैं तो मां के पास जा रहा था। यही लोग मुझे लौटा लाए।'

लड़के का बुखार काफी तेज हो गया था। रात-भर आयं-बायं बकता रहा। विश्वम्भर बाबू डॉक्टर को बुला लाए। फटिक ने एक बार अपनी लाल-लाल आंखें खोलकर ऊपर छत की धन्नियों की ओर सूनी निगाहों से देखा और कहा, 'मामाजी, मेरी छुट्टी हो गई है क्या?'

विश्वम्भर बाबू ने रूमाल से आंसू पोंछे। स्नेह से फटिक के बुखार से जलते हुए, दुबले हाथ को अपने हाथों में लिए उसके पास बैठे रहे। फटिक फिर बड़बड़ाने लगा, 'मां मुझे मत मारो, मां! सच बता रहा हूं कि मैंने कुछ नहीं किया, मां!'

दूसरे दिन कुछ देर के लिए होश आया, तो फटिक किसी की आशा में कमरे में चारों ओर पथराई आंखों से देखता रहा। निराश हो, चुपचाप दीवार की ओर करवट लेकर लेट गया।

विश्वम्भर बाबू ने उसके मन की बात ताड़ ली और उसके कान के पास मुंह ले जाकर धीमी आवाज में कहा, 'फटिक, तेरी मां को बुलवाया है, बेटा!'

उसके बाद वाला भी दिन गुजर गया। डॉक्टर ने चिंतित और उदास स्वर में कहा कि हालत बहुत खराब है।

विश्वम्भर बाबू टिमटिमाती हुई रोशनी में रोगी के सिरहाने बैठकर फटिक की मां की प्रतिक्षण प्रतीक्षा करते रहे।

फटिक जहाज के खलासियों की तरह, उन्हीं के स्वर में कहने लगा, 'एक बांओ मिला नहीं। दो बांओ मिला...नहीं।' कोलकाता आते वक्त कुछ रास्ता उसे स्टीमर में तय करना पड़ा था। उसी स्टीमर के खलासी रस्सी डालकर गाने के स्वर में पानी की गहराई नापते थे। फटिक भी अपनी बड़बड़ाहट के झोंके में उन्हीं की नकल करता हुआ करुण स्वर में जैसे पानी की गहराई नाप रहा था। जिस अपार समुद्र में बालक यात्रा कर रहा था, वहां कहीं पर भी रस्सी डालकर उसकी थाह नहीं मिल रही थी।

ऐसे ही समय फटिक की मां आंधी की तरह कमरे में आ पहुंची और ऊंचे स्वर में रो पड़ी। विश्वम्भर ने बड़ी मुश्किल से बहिन के क्रंदन को रोका, तो वह अपने फटिक के बिस्तर पर पछाड़ खाकर गिर पड़ी और जोर-जोर से पुकारने लगी, 'फटिक, मेरे लाल, मेरे मुन्ना, मेरे बेटे!'

फटिक ने मानो बड़ी आसानी से इस पुकार का जवाब दिया, 'अयं!' मां ने फिर पुकारा, 'अरे, मेरा बेटा फटिक रे! मेरा बचुवा रे!'

फटिक ने धीरे-से करवट ली और किसी विशेष व्यक्ति की ओर लक्ष्य न करते हुए धीमे और गंभीर स्वर में कहा, 'मां, अब मेरी छुट्टी हो गई। मां, अब मैं घर जा रहा हूं। मां!' ❖

प्रयाग शुक्ल की कविताएं

राह में

राह में मिलता है सूरज
राह में मिलती है धूल
कभी-कभी वनस्पतियां
फूल

मिलते हैं अजनबी
राह में, मिलते हैं
चेहरे कुम्हलाए
मिलते हैं उजड़े हुए लोग।
आंधी पानी।

कभी बादल, उमड़ आए।
मिलती हैं नदियां
अपने ही पाट में सिमटी।
धरती लुटी-पिटी।
मिलते हैं नए-नए वाहन
चमकीले।
चेहरे पथरीले।
मिलती है रेत।
कभी भरे कभी कटे हुए खेत।
कुछ खंडहर।
कच्चे या पक्के घर।
दीए लालटेनें मोमबत्तियां।
बिजली के लट्टू।
गिरे हुए पत्ते।
मधुमक्खी के छत्ते।
मिलते हैं राह में
कुछ सुंदर मुखड़े।
जब से चल रहा हूं—
मिलते हैं राह में, चले
आते
दिन
पल-छिन
दुखड़े—
पर्वत-से, राई-से,
कुएं-से, खाई-से,
आगे
अगम चढ़ाई-से।

•

कुछ नहीं

'कुछ नहीं'
कहते हम,
पूछता अक्सर कोई जब :
'सोच क्या रहे थे आप?'

'कुछ नहीं'
हम कहते बीच बातचीत के
कोई जब दिलाता याद :
'कुछ कह रहे थे आप...'
'कुछ नहीं', कहते हम।

जितनी ही बार
कहा—'कुछ नहीं'
उतनी ही बार
कुछ कहना था—

पर, उसे 'कुछ नहीं'
बहाकर कहीं ले गया!

•

शब्द

जो था सोच में
वह नहीं रहा
पूरा का पूरा
शब्द में।

पर रहे शब्द—
पता देते
उस सोच का।

❖❖

शीलन

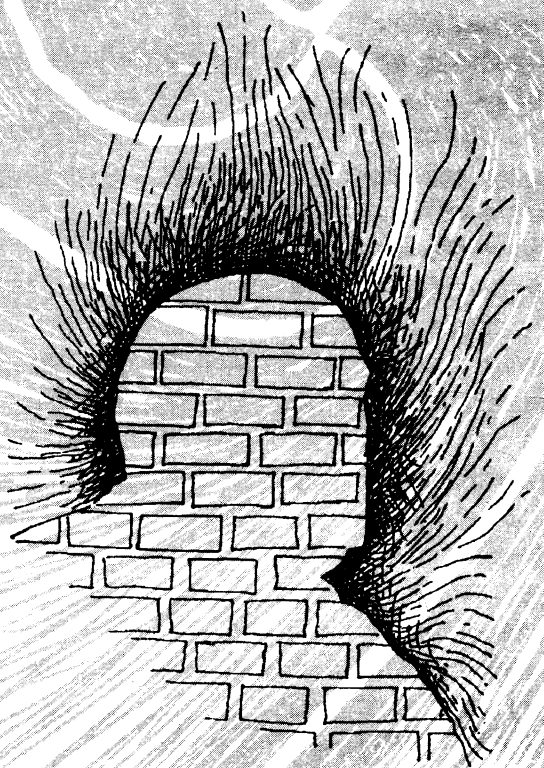

जिस तरह बच्चा पानी में डुबकी लगाए, बिना छपछपाए, डूबने-उठने बिना तैरना सीख नहीं सकता, उसी तरह समृद्ध होते हुए भी इस्तेमाल बिना भाषा समृद्ध नहीं हो सकती। इस्तेमाल सब जगह हो और फौरन; विज्ञानशाला और अदालत, अध्ययन, अध्यापन इत्यादि सभी जगह। हो सकता है कि शुरू में बेढ़ंगा लगे, अटपटा हो और गलतियां हो जाएं। क्षेपक के तौर पर मैं इतना कह दूं कि मौजूदा अंग्रेजी की गलतियों से हिंदी की ये गलतियां कम हानिकारी होंगी। उसका सवाल और है। भाषा को संवारने-सुधारने का काम जितना भाषाशास्त्री या शब्दकोश-निर्माता करते हैं, उससे ज्यादा वकील, जज, राजपुरुष, अध्यापक, लेखक, वक्ता, वैज्ञानिक इत्यादि किया करते हैं अपने इस्तेमाल के द्वारा। इनके इस्तेमाल से भाषा सुधरती है, न कि सुधर जाने के बाद ये लोग उसका इस्तेमाल करने बैठते हैं।

—राममनोहर लोहिया

अनासक्त चेतना का निर्माण

साध्वी अणिमाश्री

अनासक्त चेतना का निर्माण होने पर सारे बंधन अनायास ही टूटने लग जाते हैं। उस स्थिति में व्यक्ति परमार्थपरायण बन जाता है। वह दुष्प्रवृत्तियों के दलदल से ऊपर उठकर सद्प्रवृत्ति को संवर्धित करने में लग जाता है। वह प्रयास ही उसका एकमात्र लक्ष्य बन जाता है। वह जीवन की अनेकानेक उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ हो जाता है। आज का यह यक्ष प्रश्न है कि इस चेतना को कैसे जगाया जाए?

आगमकारों ने इस चेतना के निर्माण का एक मार्ग दिया है—

'न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं।।'

अर्थात् ज्ञाति, मित्र-वर्ग, पुत्र और बांधव उसका दुख नहीं बंटा सकते। वह स्वयं अकेला दुख का अनुभव करता है। क्योंकि कर्म कर्ता का अनुगमन करता है। हे चेतन! तुम जिस मोहासक्ति में उलझकर क्रूरकर्मी बन रहे हो। हित-अहित की ओर से आंख मूंदकर केवल कर्म किए जा रहे हो। जरा चिंतन करो। जो-कुछ भी तुम संग्रह कर रहो हो उसका उपभोग परिवार का प्रत्येक सदस्य तत्परता से करेगा, किंतु उस संचय में जिस भावधारा के साथ तुमने जैसे कर्मों का अर्जन किया है उनका फल भोगते समय कोई भी तुम्हारा सहयोग नहीं करेगा। अतः तुम सोचो और गहराई से चिंतन करो।

चित्तभूमि पर अवांछनीय वातावरण और अनुपयुक्त संपर्क से पड़ने वाले दुष्प्रभावों को दूर करने के लिए स्वाध्यायरूपी साबुन से नित्य शोधन किया जाना चाहिए। स्वाध्याय एक ऐसी पवित्र बुहारी है जो अंतःकरण में जमा मलिनता के कूड़े-कचरे को झाड़-बुहारकर साफ कर देती है। जहां-कहीं भी देखो, स्वच्छता का सर्वत्र आदर होता है। जब व्यक्ति अपने निर्धारित लक्ष्य के प्रति प्रयत्नशील बनता है तो सफलता का वरण करने में समय अधिक या कम लग सकता है, किंतु मंजिल तक पहुंचने के अधिकार से उसे कोई वंचित नहीं कर सकता।

अनासक्त चेतना के निर्माण में स्वाध्यायप्रियता अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। आप्तपुरुष कहते हैं कि तुम स्वाध्याय करने में प्रमाद मत करो। हमेशा इस करणीय कार्य में नियमितता बनाए रखो। जिस प्रकार शरीर, वस्त्र, घर, बर्तन आदि पर मैल जमने के कारण हमेशा उनकी सफाई की जाती है। वैसे ही चित्तभूमि पर अवांछनीय वातावरण और अनुपयुक्त संपर्क से पड़ने वाले दुष्प्रभावों को दूर करने के लिए स्वाध्यायरूपी साबुन से नित्य शोधन किया जाना चाहिए। स्वाध्याय एक ऐसी पवित्र बुहारी है जो अंतःकरण में जमा मलिनता के कूड़े-कचरे को झाड़-बुहारकर साफ कर देती है। जहां-कहीं भी देखो, स्वच्छता का सर्वत्र आदर होता है। जब व्यक्ति अपने निर्धारित लक्ष्य के प्रति प्रयत्नशील बनता है तो सफलता का वरण करने में समय अधिक या कम लग सकता है, किंतु मंजिल तक पहुंचने के अधिकार से उसे कोई वंचित नहीं कर सकता।

कहते हैं—स्वामी रामकृष्ण परमहंस अपने शिष्यों के साथ टहलते हुए एक नदी के किनारे पहुंचे। वहां मछुआरे जाल फेंककर मछलियां पकड़ रहे थे। एक जाल के पास खड़े होकर परमहंस ने कहा—तुम लोग ध्यानपूर्वक इन मछलियों की गतिविधियों को देखो। शिष्यों ने देखा कि कुछ मछलियां तो ऐसी हैं जो जाल में निश्चल पड़ी हैं। उन्होंने जाल से निकलने की कोई कोशिश नहीं की। कुछ मछलियां जाल से निकलने की कोशिश तो करती रहीं, पर निकल नहीं

पाईं। कुछ मछलियां प्रयास करते-करते जाल से मुक्त होकर पुनः जल में क्रीड़ा करने लगीं।

परमहंस ने शिष्यों से कहा—जिस प्रकार मछलियां तीन प्रकार की होती हैं, वैसे ही मनुष्य भी तीन प्रकार के होते हैं। एक श्रेणी उनकी है जिनकी आत्मा ने बंधन को स्वीकार कर लिया है और वे इस भव-जाल से निकलने की बात भी नहीं सोचते। दूसरी श्रेणी ऐसे व्यक्तियों की है जो वीरों की तरह पराक्रम तो करते हैं फिर भी मुक्ति से वंचित रह जाते हैं। तीसरी श्रेणी उन लोगों की है जो अपने प्रबल प्रयत्न द्वारा अंततोगत्वा मुक्ति को प्राप्त कर ही लेते हैं। महत्त्व व्यक्ति का नहीं, बल्कि उसके सम्यक् पुरुषार्थ का है।

गंगोत्री में भगीरथ ने तप किया और उन्होंने भगवती गंगा को स्वर्ग से धरती पर अवतरित होने के लिए बाध्य कर लिया। आज आत्म-उत्थान की दिशा में भगीरथ प्रयत्न करके ज्ञान-गंगा को अवतरित करने की महती अपेक्षा महसूस हो रही है। जब तक आसक्ति-अनासक्ति, सराग-वीतराग, बंधन-मुक्ति आदि तथ्यों की जानकारी ही नहीं होगी तो क्रियात्मक रूप में कैसे निखार आ सकेगा? भगवान महावीर ने कहा है—'बुज्झेज्ज तिउतेज्जा' पहले बंधन को जानो और फिर उसे तोड़ने के लिए प्रयत्नशील बन जाओ।

महान विचारक हेलन केलर ने एक बार कहा था कि यह विश्वास हमें बल देता है कि जीवन कितना ही कठिन हो, उसे हम अकेले ही जी रहे हैं एवं हमारे ऊपर-नीचे, दाएं-बाएं शाश्वत आत्मा के स्रोत हैं। जब हृदय किसी गहरे शोक से विदीर्ण होता है तब आत्मिक दृष्टि से हम जंगल में भटके यात्री की तरह भटकते रहते हैं और मार्ग पाने के प्रयत्न में पेड़ों और पत्थरों से टकराते फिरते हैं। मगर रास्ता मिलता है—आस्था से। जो हमें कठिनाइयों के जाल से निकालकर उस खुली सड़क पर पहुंचा सकता है जिसकी हमें तलाश है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

'साथी, श्रद्धासिक्त हृदय की, रेखाओं में बल है।
चाहे टूटी, टेढ़ी-मेढ़ी, तिरछी और सरल है।।'

भीतर से आसक्ति छोड़ने की चाह जब जाग जाएगी तब अनासक्त चेतना के निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार होगी। यद्यपि पदार्थ को त्यागने की चेतना का जागरण सम्यक् दिशा में प्रस्थान है, पर उससे भी महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि भीतर में व्याप्त आसक्ति की जड़ कमजोर हो। ऐसा होने पर ही व्यक्ति प्रत्येक उपलब्धि को हस्तगत कर सकेगा। अनासक्त चेतना का निर्माण समस्त समस्याओं का सटीक समाधान है। ❖

पद की उपेक्षा

मैजी काल के दौरान क्योतो के ताफुकु मठ में एक प्रसिद्ध श्रमण रहता था जिसका नाम था कैचु। एक दिन क्योतो के गवर्नर की इच्छा हुई कि वह उससे मुलाकात करे।

मठ के परिचारक ने श्रमण के सामने कार्ड प्रस्तुत किया। जिस पर लिखा था : कितगाकि, गवर्नर क्योतो।

'मुझे इस व्यक्ति से कोई वास्ता नहीं है।' कैचु ने परिचारक को कार्ड लौटाते कहा, 'कह दो उसे, फौरन यहां से चला जाए।'

परिचारक ने विनम्रता से गवर्नर को कार्ड लौटाया तो वह तुरंत श्रमण की मंशा भांप गया। 'वाकई मुझ से भारी गलती हो गई।' और उसने अदेर अपनी गलती सुधार ली। 'गवर्नर क्योतो' को पेंसिल से काटकर उसने परिचारक को कार्ड वापस सौंपते हुए कहा, 'अपने गुरु से एक बार और पूछ लीजिए।'

'ओह! यह कितगाकि है क्या?' श्रमण ने कार्ड पर नजर डालते हुए कहा, 'मैं जरूर मिलना चाहूंगा उससे।'

रूंख से

पर्युषण पर्व

छिपे दोषों का स्वच्छ दर्पण

साध्वी लक्ष्मीकुमारी

पर्वों की परंपरा भारतीय संस्कृति में सदा से चली आ रही है। पर्वों की प्राचीनता उतनी ही प्राचीन है जितनी मानव जाति की परंपरा। हमारी परंपरा में पर्व दो भागों में विभक्त हैं—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक पर्व तो आमोद-प्रमोद, मनोरंजन और भौतिक उपलब्धियों के लिए होते हैं। इन पर्वों के समागम से सबके मानस में एक भौतिक उमंग होती है कि हमको खाने के लिए मधुर मिष्टान्न, पहनने के लिए नए परिधान तथा घूमने के लिए नए-नए साधन-सुविधाएं व दर्शनीय स्थल मिलेंगे—आदि-आदि।

लोकोत्तर पर्व

आध्यात्मिक पर्व आत्मशांति के लिए होते हैं। अन्यान्य पर्वों की तरह इनमें आमोद-प्रमोद, हास-परिहास जैसी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन नहीं मिलता। पर्युषण पर्व आत्मशांति का आध्यात्मिक पर्व है और जैन-मत में इस को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। जैन धर्म में इसको सब पर्वों का शिरमौर माना है। यह आत्म-निरीक्षण का महान पर्व है। पर्युषण पर्व में जीवन जीने का नूतन प्रकाश मिलता है। अभिनव आनंद और आत्मिक उत्साह का वातावरण बनता है। दुश्चिंतन और दुर्भावनाओं से दूर रहने की प्रेरणा प्राप्त होती है। सद्भावनाओं का संचार होता है। पर्वाधिराज पर्युषण का यह पावन अवसर निश्चित ही अंतःचेतना पर ऐसा संस्कार डालता है जिससे कुरीतियों-कुसंस्कारों पर कुठाराघात होता है और सद्संस्कारों का शंखनाद होता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समूह में रहता है। समूह में रहने वालों के लिए मनमुटाव होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। मनुष्य में अच्छाई और बुराई दोनों होती है। यह पर्व अच्छाई का संचय करता है और बुराई का शमन। इसीलिए इसे सब पर्वों का शिरमौर माना है। निस्संदेह पर्वाधिराज पर्युषण पर्व मानव को आत्म-निरीक्षण, आत्म-चिंतन तथा आत्म-कल्याण की आदर्श भावना प्रदान करता है। अपने में छिपे दोषों को देखने के लिए यह पर्व स्वच्छ दर्पण है।

पर्युषण का शाब्दिक अर्थ है—आत्मवास अर्थात् आत्मा में अवस्थित होना। पर्युषण शब्द में परि उपसर्ग और वस् धातु—इसमें अन् प्रत्यय लगने से पर्युषण शब्द बनता है। परि का अर्थ है—संपूर्ण रूप से निकट में और वस का अर्थ है—वसना या रहना। पर्युषण का अर्थ होता है—संपूर्ण रूप से निकट रहना। प्रश्न उपस्थित होता है, किसके निकट रहना? व्यक्ति के, वस्तु के, गांव या शहर के, घर के या पड़ोस के? स्पष्ट है पर्युषण से तात्पर्य इनके निकट रहना नहीं है, स्वयं के निकट रहना है—आत्मा के निकट रहना है।

पर्युषण का दूसरा अर्थ है—कर्मों का शमन करना। जब कर्म-शत्रुओं का विनाश होगा तभी आत्मा स्व-स्वरूप में अवस्थित होगी। अतः यह पर्व आत्मा का आत्मा में निवास करने की प्रेरणा देता है। पर्युषण पर्व का नाम आते ही गीता का एक मधुर पद्य स्मृति में आता है—'आत्मौपम्येन सर्वत्रः समे पश्यति योऽर्जुनः—भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! प्राणी-मात्र को अपने तुल्य समझो।' जैनागम भी इसी बात को पुष्ट करते हैं—'मित्ती मे सव्य भूएसु, वेरंमज्झण केणइ—सर्व प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है, किसी के साथ वैर नहीं।'

संवत्सरी पर्व मनाने के लिए भिन्न-भिन्न मान्यताएं उपलब्ध होती हैं। आगम साहित्य में इसके लिए यह उल्लेख मिलता है कि संवत्सरी चातुर्मास के 49 या 50 दिन व्यतीत होने पर और 69 या 70 दिन अवशिष्ट रहने पर मनाई जानी चाहिए। संवत्सरी कभी पंचमी, कभी चतुर्थी को मनाई जाती है। इसके लिये एक प्रमाण यह प्रस्तुत किया जाता है कि आर्य कालिकाचार्य अपनी बहन की रक्षा के लिए जा रहे थे। संवत्सरी यात्रा-प्रवास में पड़ती थी। अतः राजा सातवाहन के अनुरोध पर चतुर्थी को ही संवत्सरी मनाई गई। दिगंबर परंपरा में यह पर्व 'दस-लक्षणा' नाम से मनाया जाता है। यह 'दस-लक्षणा' पर्व पर्युषण पर्व के समाप्त होने के साथ-साथ प्रारंभ होता है।

पर्युषण पर्व भारतीय संस्कृति का प्राण है। संस्कृति में दो शब्द हैं—सम् और कृति। इन दोनों के योग से संस्कृति शब्द की उत्पत्ति हुई है। सम् अर्थात् सम्यक् और कृति अर्थात् निर्माण। पर्युषण पर्व जीवन का सम्यक् अर्थात् सही निर्माण करता है। पतित को पावन बनाता है। पथच्युत के लिए मार्ग दर्शाता है। इसलिए इसे भारतीय संस्कृति का प्राण माना गया है।

जैन दर्शन में दस धर्म बताए हैं। उनमें तीसरा स्थान आर्जव को मिला है। ऋजुता के अभाव में धर्म नहीं टिक सकता। जब तक जीवन-व्यवहार में सरलता नहीं आती, तब तक आत्म-स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। जहां छद्म है, छलना है—वहां सरलता का वास नहीं होता। यह पर्व हमें सरल बनने की प्रेरणा देता है। सरलता के द्वारा ही कोई संस्कृति जीवित रह सकती है। मानव-जीवन के आंतरिक सौंदर्य को सुरक्षित रखने के लिए यह पर्व सरलता, सद्व्यवहार, प्रमोद-भावना तथा मैत्री-भावना का संदेश देता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समूह में रहता है। समूह में रहने वालों के लिए मनमुटाव होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। मनुष्य में अच्छाई और बुराई दोनों होती हैं। यह पर्व अच्छाई का संचय करता है और बुराई का शमन। इसीलिए इसे सब पर्वों का शिरमौर माना है। निस्संदेह पर्वाधिराज पर्युषण पर्व मानव को आत्म-निरीक्षण, आत्म-चिंतन तथा आत्म-कल्याण की आदर्श भावना प्रदान करता है। अपने में छिपे दोषों को देखने के लिए यह पर्व स्वच्छ दर्पण है।

यह कहता है—तुम रोषी पर भी रोष मत करो। बल्कि ऐसा विशुद्ध चिंतन करो कि कोई मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। यदि रोष करूंगा तो मेरी आत्मा का पतन अवश्यंभावी है।

क्षमा का आदर्श कितना बड़ा है! पौराणिक कथा के अनुसार भगवान विष्णु व महर्षि भृगु की घटना भी इसी पक्ष को मजबूत बनाती है। कवि रहीम का दोहा भी इस प्रसंग की स्मृति कराता है—

'क्षमा बड़न को होत है, ओछन को उत्पात।
कहा रहीम हरि को घट्यो, जो भृगु मारी लात।।'

पर्युषण पर्व मनाने का सही उद्देश्य है—आत्म-शांति। यह पर्व हमें क्षमा और मैत्री का अनुपम पाठ पढ़ाने आता है। यह पर्वाधिराज पर्युषण पर्व वस्तुतः ईर्ष्या को मिटाने के लिए पावन गंगा है। सचमुच ही यह पर्व मानव-मस्तिष्क में नई चेतना की स्फुरणा भरने वाला है। ❖

अनुशासन

अनुशासन एक कला है। उसका शिल्पी यह जानता है कि कब कहा जाए और कब सहा जाए। सर्वत्र कहा ही जाए तो धागा टूट जाता है। और सर्वत्र सहा ही जाए तो वह हाथ से छूट जाता है।

हर आदमी चाहता है, मेरा अनुशासन चले, पर यह नहीं चाहता कि मैं अनुशासन में चलूं। उसे अनुशासन करने का कोई अधिकार नहीं है जो अनुशासन में नहीं रह चुका है।

अनुशासन जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है। उसमें रहना कठिन है, तो उसमें दूसरों को रखना कठिनतर है।

—मुनि नथमल (आचार्यश्री महाप्रज्ञ)

नईम के घर राकेश

❑

❑ शकुन्तला सिरोठिया ❑

'राकेश कुछ और लो न यार! तुमने तो कुछ खाया ही नहीं। क्या अम्मी के हाथ की सेवईं तुम्हें पसंद नहीं आई?'

'कितना खिलाओगे नईम? क्या आज यहीं पर मेरा बिस्तर बिछाना है? देख रहे हो कि मेरा पेट तनकर फुटबाल बन गया है।'

गोल-मटोल स्वस्थ राकेश ने कुरता उठाकर अपना पेट दिखाना चाहा कि नईम के अब्बा ने उसका हाथ रोक, पीठ ठोंक दी। हंसकर बोले—'बस, बस, बेटे नजर लग जाएगी तुम्हारे पेट को। इसे ढंककर ही रखो। अल्लाह तुम्हारी सेहत को बरक्कत दे!'

नईम के घर राकेश ईद की मुबारकवाद देने आया था। ईद को गुजरे तो तीन दिन बीत चुके थे, किंतु तब राकेश शहर से बाहर था। आज सुबह ही लौटा था। घर उसका दूर था, इसीलिए तीन बजे ही वह नईम से मिलने चला आया कि शाम होते-होते ही घर लौट जाए। दोनों एक ही स्कूल में पढ़ते हैं। अच्छे दिली दोस्त हैं। राकेश अक्सर यहां आता रहता है। नईम के माता-पिता भी राकेश को बहुत प्यार करते हैं। बिल्कुल अपने लड़के की तरह मानते हैं। इत्तफाक से दोनों दोस्तों के पिता भी एक ही आफिस में आफिसर के पद पर काम करते हैं। नईम के अब्बा यद्यपि पुराने विचारों के मुसलमान हैं, लेकिन फिर भी घर में राकेश से कोई परदा नहीं करता। नईम की बहन भी राकेश को भाईजान ही कहकर बुलाती है। राकेश भी उसे अपनी सगी बहिन की तरह ही मानता है। कभी उसे 'बिल्ली' कहकर चिढ़ाता है तो कभी 'छिपकली'। वह भी उसे मोटू कह कर उसका मजाक उड़ाती है। तब राकेश सचमुच चिढ़ जाता है—

'ऐ बिल्ली, सुन ले कान खोल कर, यदि मुझे मोटू कहा तो मैं तेरी शादी एक मोटू मियां से कहीं दूर देश में कर दूंगा। इतनी दूर से न मैं और न नईम, कोई तुझे बुलाने भी नहीं जाएगा।'

नईम की बहिन, फहमीदा तब चिढ़कर अपनी अम्मी से शिकायत कर देती। अम्मी कहती—'पगली, क्यों बुरा मानती है इस शैतान की बात का! हम लोग इसके लिए भी इसी की तरह एक गोलमटोल मारवाड़ी सेठ की लड़की ढूंढ़कर लाएंगे। अच्छी जोड़ी रहेगी न?'

सब लोग खिलखिला पड़ते। फहमीदा ताली पीटने लगती।

ताज्जुब से उनका मुख देखती हुई, हिचकती हुई नईम की अम्मी चुपचाप चाय बनाने के लिए उठ कर रसोई घर में चली गईं। नईम के अब्बा ने एक रहस्यभरी दृष्टि से राकेश को देखा। राकेश कुछ समझ नहीं पाया कि वे क्यों इतनी गंभीरता से उसको देख रहे हैं—'हे भगवान! क्या इनके मन में भी हिंदू और मुसलमान का फर्क आ गया है? इतनी देर तक ये कहां बैठे थे? चाय बनाने के बहाने से क्या इन्होंने अम्मी को यहां से हटा दिया है? सुनते हैं, मजहबी दंगों में कोई किसी का नहीं होता। पुराने-से-पुराना रिश्ता भी ताक पर रख देते हैं। मैं कहां आ फंसा? हे राम!' राकेश के मन में कुछ ऐसी ही उथल-पुथल मच रही थी।

उस दिन राकेश को खाते और बातें करते काफी देर हो गई। छह बजने को आए। शाम घिरने लगी। राकेश ने कहा—

'नईम अब घर जाना चाहिए। इतने दिनों से मैं बाहर से आया हूं, अभी तो मां के पास कुछ देर बैठ भी नहीं पाया।'

दोनों घर से बाहर निकले।

लेकिन यह क्या! सड़क पर कुछ लोग लाठी-हथियार लहराते शोर मचाते चले आ रहे थे। लग रहा था कि दंगा भड़क गया है। यह मुसलमानी मुहल्ला था। नईम ने खतरा भांप लिया। अभी किवाड़ खोल कर ड्योढ़ी ही नहीं लांघी थी उन्होंने। राकेश का हाथ पकड़कर नईम ने उसे अपनी आड़ में करके कमरे में धकेल दिया। राकेश कमरे में फर्श पर जा गिरा। दो मिनट नईम ने अपनी शक्ल बाहर वालों को दिखाकर खुद भी अंदर घुसकर किवाड़ लगा लिए। सड़क पर घूम रहे गुंडों की नजर उस पर पड़ी, पर अपनी ही बिरादरी का भाई है, सोचकर आगे बढ़ गए। नईम ने राकेश को छिपाने में इतनी जल्दी की थी कि किसी की नजर उस पर पड़ी ही नहीं, अन्यथा भगवान जाने क्या होता।

खतरे का अंदाज लगाकर नईम का दिल बुरी तरह धड़क रहा था। अंदर आकर उसने कहा—

'चोट तो नहीं लगी, राकेश?'

लेकिन वह तो भौचक्का-सा उसका मुंह देख रहा था। यह सब इतनी जल्दी हुआ था कि सीधे-सादे राकेश को कुछ समझ में ही नहीं आया। वास्तव में सभी किवाड़ बंद किए अंदर बैठे थे। जब राकेश जाने लगा तो नईम ने ही आगे बढ़कर किवाड़ की सिटकनी खोली थी। वही पहले बाहर निकला था। राकेश तो अम्मीजान से आदाब करने में दो कदम पीछे ही था। कहीं किसी की उस पर नजर न पड़ जाए, नईम ने उसे जोर से वापस कमरे में ढकेल दिया था। उसे उठा कर नईम की अम्मी ने कुर्सी पर बिठाया। दो-चार मिनट तो किसी को कुछ अंदाज ही नहीं लगा। किंतु अब सब शीशे की तरह साफ था। बाहर 'मारो-काटो' का शोर हो रहा था। हिंदू-मुलसमानों का झगड़ा शुरू हो गया था। खिड़की-दरवाजे सब बंद करके पूरा घर चुपचाप एक कमरे में आ सिमटा।

नईम घबरा रहा था—राकेश के लिए। यदि किसी को मालूम हो गया कि एक हिंदू लड़का मुसलमान के घर में बैठा है, तो गजब हो जाएगा। मजहब और धर्म के अंधे ये जंगली ऐसे दंगे के समय अपना-पराया सब भूल जाते हैं। जिंदगी-भर की दोस्ती भूलकर एक-दूसरे की पीठ में छुरा भोंकने में ये जरा भी नहीं हिचकते।

राकेश का भी घबराहट से बुरा हाल था। उसकी मां क्या सोच रही होगी? क्या उसके मुहल्ले में भी दंगा हो गया होगा? तब तो मां और पिताजी राकेश के लिए छटपटा रहे होंगे। मां और दादी जरूर बिलख-बिलखकर रो रही होंगी। कहीं पिताजी उसे ढूंढ़ने बाहर ही न निकल पड़ें। उसकी आंखों से आंसू बहने लगे।

कोई किसी से बात नहीं कर रहा था। अजीब-सा सन्नाटा छाया था कमरे में। रात के आठ बज गए थे। शोर कुछ कम हो चला था। तभी बाहर पुलिस का सायरन सुनाई दिया। पुलिस की जीपें दौड़ रही थीं। स्थिति शायद वश में हो गई थी। कर्फ्यू लगा दिया गया था।

घर में यदि कोई नहीं घबराया था तो वह नईम के अब्बा थे। वे दूसरे कमरे में बैठे बराबर फोन पर कोतवाली से संबंध मिला रहे थे। जब यह पता लग गया कि अब शहर की हालत ठीक है, झगड़ा बंद हो गया है तो वे इतमीनान से उठे। खतरा टल चुका था। उन्होंने कोतवाली फोन करके अपने दोस्त दरोगा, जो हिंदू ही था, उसको राकेश के बारे में बताया—'दरोगा साहब, राकेश मेरे घर में हैं। खतरे से बाहर है। मेरे बेटे की तरह मेरे पास हिफाजत से है, किंतु उसके मां-बाप का क्या हाल होगा, इसका अंदाज एक बेटे का बाप होने के नाते मैं लगा सकता हूं। इसलिए या तो आप आकर उसे अपने साथ उसके घर पहुंचा दें या उसके घर किसी तरह खबर कर दें। उसके बाप से कहें कि उनका बेटा मेरे पास

है। उसका बाल भी बांका नहीं होगा। जब तक मेरा नईम जिंदा है— राकेश भी हर खतरे से बाहर है।'

'मेरे सच्चे मुसलमान भाई! मैं आपको यहीं से प्रणाम करता हूं। आप एक सही इंसान हैं। जब तक आप जैसे हिंदू या मुसलमान भारत में हैं, कोई हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। मैं अभी एक आदमी राकेश के घर भेजता हूं। उनकी जैसी इच्छा होगी आपको बताऊंगा।' कोतवाली से दरोगा साहब का उत्तर था।

फोन रखकर मुस्कराते हुए नईम के अब्बा अब उस कमरे में आए जहां सब लोग डरे-सहमे-से बैठे थे। उन लोगों को कुछ पता नहीं था कि फोन पर किससे और क्या बात हो रही थी।

'अरे क्या मनहूसियत छाई है यहां? बेगम, जरा गरम चाय तो बनाओ सब लोगों के लिए। कितनी देर से कुछ खाया-पीया नहीं।' नईम के अब्बा कमरे में बैठते हुए बोले।

ताज्जुब से उनका मुख देखती हुई, हिचकती हुई नईम की अम्मी चुपचाप चाय बनाने के लिए उठ कर रसोईघर में चली गईं। नईम के अब्बा ने एक रहस्यभरी दृष्टि से राकेश को देखा। राकेश कुछ समझ नहीं पाया कि वे क्यों इतनी गंभीरता से उसको देख रहे हैं—'हे भगवान! क्या इनके मन में भी हिंदू और मुसलमान का फर्क आ गया है? इतनी देर तक ये कहां बैठे थे? चाय बनाने के बहाने से क्या इन्होंने अम्मी को यहां से हटा दिया है? सुनते हैं, मजहबी दंगों में कोई किसी का नहीं होता। पुराने-से-पुराना रिश्ता भी ताक पर रख देते हैं। मैं कहां आ फंसा? हे राम!' राकेश के मन में कुछ ऐसी ही उथल-पुथल मच रही थी।

नईम के अब्बा आगे बढ़कर उसके पास आकर खड़े हो गए। वह मुस्कराए और उसकी पीठ को थपथपाते हुए बोले—'कहो, बेटे राकेश! क्या हाल है? एक मुसलमानी मुहल्ले में एक मुसलमान के घर में बैठे हो, यही सोच रहे हो न कि कहीं कुछ हो न जाए! अपनी जान का डर लग रहा है?'

राकेश घबराकर उठ खड़ा हुआ। जैसे कोई दुःस्वप्न देखते-देखते चौंक पड़ा हो। उसने नईम के अब्बा के मुख की ओर देखा। जैसे उसने कुछ नहीं सुना और न समझा हो। उसकी हालत देखकर अब्बा को हंसी भी आ रही थी और दया भी। उन्होंने उसे पकड़कर छाती से लगा लिया।

'पगले! अपने ही घर में, अपनों के ही बीच बैठ कर कोई इस तरह घबराता है? क्या तू अभी तक हम लोगों को नहीं पहचान पाया? लाख हिंदू-मुसलमानों का झगड़ा या दंगा हो, लेकिन अपने घर में तुझ पर हम आंच नहीं आने दे सकते। जब तक हममें से कोई भी जिंदा है, तुझे कोई खतरा नहीं हो सकता।' अब्बा ने राकेश का हौंसला बढ़ाया।

राकेश दोनों हाथों से नईम के अब्बा से लिपट लिया था। घबराहट और भय की हालत में अब्बा के प्यार के बोध ने उसे सचमुच रुला दिया। इतने में फोन की घंटी बजी। अब्बा ने दौड़कर उठाया।

दरोगा साहब बोल रहे थे—'भाई जान! जरा राकेश को बुलाइए, अपने पिताजी से बात कर ले। मैं उन्हीं के मुहल्ले से बोल रहा हूं।'

राकेश ने फोन पकड़ा—'बेटे राकेश, ईश्वर को शत-शत धन्यवाद दो कि आज इस नाजुक घड़ी में तुम नईम के घर में हो।'

राकेश ने पूछा—'पिताजी, क्या मैं घर आ जाऊं?'

'अरे नहीं, पगले! जितना सुरक्षित तू भाईजान के घर में है, उतना तो अपने घर में भी नहीं रह सकता। समझ ले कि तू अपने पिता के ही घर में है।' इतना कह उन्होंने फोन रख दिया।

राकेश ने सिर उठाकर देखा। दरवाजे पर अम्मी चाय की ट्रे लिए खड़ी मुस्करा रही थीं। सबका डर और घबराहट समाप्त हो चुके थे। फहमीदा ने कहा—

'क्यों भाई नईम, ये मोटे इतने डरपोक क्यों होते हैं?'

राकेश घूंसा तानकर मारने दौड़ा—'ठहर बिल्ली, कुछ ज्यादा ही...'

फहमीदा जीभ निकालकर उसे चिढ़ाती हुई दूसरे कमरे में भाग गई। ❖

"

लोक-संग्रह का अर्थ लोगों को इकट्ठा करना नहीं है। कोई जादूगर आता है तो भी लोग एकत्र होते हैं। लोगों को एकत्र करना बहुत बड़ी बात नहीं है। नट भी लोगों को इकट्ठा कर सकता है। एक फिल्म अभिनेत्री यदि बाजार में खरीददारी करने जाए, तो आस-पास के मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। तुरंत ही पुलिस को दौड़ना पड़ता है और मेरे जैसा व्यक्ति प्रवचन करने जाता हो, तो वह भी रुक जाता है। वह पूछता है कि क्या हुआ? तो कोई कहता है कि और कुछ नहीं है, अमुक फिल्म अभिनेत्री खरीददारी करने आई है!! इस प्रकार नट-नटी भी लोगों को जमा तो कर सकते हैं। परंतु यह लोक-संग्रह नहीं कहलाता है।

आज जनता नाम का नया तत्त्व आया है। जिसका ध्येय नहीं, आधार नहीं, निष्ठा नहीं, विचार नहीं, ऐसा रास्ते पर एकत्र समूह आज जनता कहलाता है। बहुत-से लोग आज ऐसा मानकर अपनी बात को ठोककर कहते हैं कि शास्त्रीजी! यह जनमत है। लोक-संग्रह का अर्थ लोगों को एकत्र करना नहीं बल्कि लोगों की उन्नति करना है। मानव की चैतन्यजागृति, जीवनजागृति, भावजागृति—यही लोक-संग्रह है।

मानव-हृदय में भिन्न-भिन्न भावों के झरने हैं। उनको प्रवाहित होना चाहिए। इसके लिए प्रयत्न करना लोक-संग्रह है। मानव को भोगजीवन से भावजीवन और भावजीवन से भद्रजीवन की ओर ले जाना ही लोक-संग्रह है।

तात्पर्य यह है कि आपने कितने लोगों की भीड़ एकत्र की है, यह महत्त्व का प्रश्न नहीं है। समूह जमा करने की ही प्रमुखता हो, तो रास्ते का कोई भी गंवार बड़े से बड़ा लोक-संग्रही हो सकता है। इसलिए लोक-संग्रह का काम लोगों का समूह जमा करना नहीं, बल्कि लोगों की उन्नति करना है।

साधक प्रत्येक व्यक्ति के पास जाएगा ताकि उसका अपना अभ्यास पक्का हो। भक्त प्रत्येक व्यक्ति के पास जाएगा क्योंकि उस व्यक्ति में बैठे हुए भगवान को मिलना है, उसके ऊपर जमी राख हटाकर अंदर बैठे हुए राम को जागृत करना है और इसी प्रकार पूर्णज्ञानी भी लोगों के पास जाएगा। उसे भगवान की आज्ञा है, उसका पालन करने के लिए, इसको कुछ लेना नहीं है, कुछ कमाना नहीं है, परंतु लोक-संग्रह की आज्ञा है, इसलिए घूमना है। प्रत्येक व्यक्ति के पास जाकर वह उसका चैतन्य जागृत करेगा।

—पांडुरंग शास्त्री आठवले

"

जैन भारती के पाठकों से

प्रिय पाठकगण,

पिछले कुछ महीनों से डाक-प्रेषण में आई अपरिहार्य बाधाओं के चलते जैन भारती आप तक पहुंचाने में हमें कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सारी परेशानियों के बाद भी हम जैन भारती का अनेकांत विशेष (विशेषांक) और फिर जून, जुलाई व अगस्त, 2002 के अंक आप तक पहुंचा पाए—यह संतोष है। अनेक पाठकों से हमें जानकारी भी मिली है कि ये सभी अंक उन्हें प्राप्त हो गए हैं।

अगस्त, 2002 के अंक से डाक प्रेषण सामान्य हो गया है और यह अंक (सितंबर, 2002) भी आपको समय पर मिल रहा है—यह हम आशा करते हैं।

अब भी यदि आपके पास जैन भारती नहीं पहुंच रही हो तो कृपया हमें बताएं। अपनी सदस्य संख्या—जो कि जैन भारती के लिफाफे पर लगे आपके पते पर अंकित है—अपने पत्र में अवश्य लिखें। आपका पता जो हम अंकित कर रहे हैं—वह सही है—कृपया इसकी भी पुष्टि करें। पते के साथ यदि पिनकोड नंबर न लिखा है तो कृपया आप अपना पिनकोड भी हमें बताएं।

प्रबंधक

जैन भारती

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

जैन भारती, सितंबर, 2002 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/2000

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

Bearing is not our only business.

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Calcutta 700 001, Ph- 220-1926/ 0640, Fax- 2485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

भँवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

आचार्य श्री कैलास
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र
कोबा, जि. गांधीनगर, पिन-382009